शिकागो के भाषण



— स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द ग्रन्थमाला संख्या, १२

शिकागो के भाषण

विवेकानन्द



प्रभात प्रकाशन दिल्ली

प्रकाशक :

प्रभात प्रकाशन
२०५, चावड़ी बाज़ार
दिल्ली

**

सम्पादक :

राजेश दीक्षित

**

प्रथम संस्करण
१९५९ ई०

**

**

मुद्रक :
हरीहर प्रेस
मथुरा

**

मूल्य :
दो रुपया

अनुक्रमणिका

*

*

कृतज्ञता-ज्ञापन



अमेरिका-निवासी बहिनो तथा भाइयो !

जिस सौहार्द्र तथा स्नेह के साथ आप लोगों ने हमारा स्वागत किया है, उसके फलस्वरूप मेरा हृदय अकथनीय हर्ष से प्रफुल्लित हो रहा है। मैं संसार के प्राचीन महर्षियों के नाम पर आपको धन्यवाद देता हूं एवं समस्त धर्मों की जननीस्वरूप हिन्दूधर्म तथा विभिन्न सम्प्रदायों के लाखों-करोड़ों हिन्दुओं की ओर से भी धन्यवाद देता हूँ।

मैं उन सज्जनों के प्रति भी धन्यवाद प्रकट करता हूँ, जिन्होंने इस सभामंच से प्राच्य-प्रतिनिधियों के सम्बन्ध में आपको यह बताया है कि ये दूर-देश-निवासी पुरुष सब जगह सहिष्णुता का भाव प्रसारित करने के हेतु यश तथा गौरव के अधिकारी हो सकते हैं। मुझे ऐसे धर्म का आश्रय ग्रहण करने का गौरव है, जिसने संसार को सहिष्णुता एवं सभी धर्मों को मान्यता प्रदान करने की शिक्षा दी है। हम लोग सभी धर्मों के प्रति केवल सहिष्णुता में ही विश्वास

नहीं रखते, अपितु सभी धर्मों को सच्चा मानकर ग्रहण करते हैं। मुझे आपसे यह निवेदन करते हुए गर्व होता है कि मैं ऐसे धर्म का अनुयायी हूँ, जिसकी पवित्र भाषा 'संस्कृत' में अंग्रेजी शब्द 'exclusion' का कोई पर्यावाची शब्द नहीं है। मुझे ऐसे देश का व्यक्ति होने का अभिमान है, जिसने इस पृथ्वी की समस्त पीड़ित एवं शरणागत जातियों और भिन्न-भिन्न धर्मों से बहिष्कृत मतावलम्बियों को आश्रय प्रदान किया है। मुझे यह बताते हुए गर्व होता है कि जिस वर्ष यहूदियों का पवित्र मंदिर रोमन जाति के अत्याचार द्वारा धूलि में मिला दिया गया था, उसी वर्ष कुछ अभिजाति यहूदी आश्रय लेने के हेतु दक्षिण भारत में आए थे तथा हमारी जाति ने उन्हें हृदय से लगाकर शरण प्रदान की थी। मुझे ऐसे धर्म में जन्म लेने का अभिमान है, जिसने पारसी जाति की रक्षा की तथा अबतक उसका पालन कर रहा है। भाइयो ! मैं आप लोगों को एक स्तोत्र के कुछ पद सुनाता हूँ, जिसे मैं अपने बाल्यकाल से गाता चला आ रहा हूँ तथा जिसे प्रतिदिन लाखों मनुष्य गाया करते हैं—

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम् ।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥*

"जिस प्रकार विभिन्न नदियाँ भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से निकल कर समुद्र में मिल जाती हैं, हे प्रभो ! उसी तरह भिन्न-भिन्न रुचि के अनुसार, भिन्न-भिन्न टेढे-मेढ़े अथवा सीधे मार्ग से जाने वाले लोग अन्त में तुम्हीं में आकर मिल जाते हैं।"

यह सभा, जो संसार की अबतक की सर्वश्रेष्ठ सभाओं में से एक है संसार के लिए गीता के उस अद्भुत उपदेश की घोषणा एवं विज्ञापन है, जो हमें बताता है—

---

* शिवमहिम्न स्तोत्र ।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।।*

"जो कोई मेरी ओर आता है, चाहे किसी तरह से हो— मैं उसे प्राप्त होता हूँ । लोग भिन्न-भिन्न मार्गों द्वारा प्रयत्न करते हुए अन्त में मेरी ओर ही आते हैं ।"

साम्प्रदायिकता, संकीर्णता तथा इन से उत्पन्न धर्म विषयक भयानक उन्मत्तता इस सुन्दर पृथ्वी पर बहुत समय तक राज्य कर चुके हैं। इनके घोर अत्याचारों से पृथ्वी भर गई, इन्होंने अनेकों बार मानव-रक्त से पृथ्वी को सींचा है, सभ्यता को नष्ट कर डाला है एवं समस्त—जातियों को निराश कर दिया है। यदि यह सब न होता, तो मनुष्य-समाज आज की अवस्था से कहीं अधिक उन्नत हो गया होता । परन्तु अब उनका समय भी आगया है और मैं पूर्ण आशा करता हूँ कि इस सभा के सन्मान के लिए जो घंटे आज सुबह बजाए गए हैं, वे सभी कट्टरताओं, तलवार अथवा लेखनी के बल पर किए जाने वाले इन सभी अत्याचारों और एक ही लक्ष्य की ओर आगे बढ़ने वाले मनुष्यों की पारस्परिक कट्टरताओं के लिए मृत्यु-नाद ही सिद्ध होंगे ।

---

* गीता, ४-११ ।

सम्प्रदायों में भ्रातृत्व



मैं आप लोगों को एक छोटी-सी कहानी सुनाता हूँ, अभी जिन वक्ता महोदय ने अपना व्याख्यान समाप्त किया, आप लोगों ने उनके इस कथन को सुना है कि 'आओ, हम लोग एक-दूसरे को बुरा कहना बन्द करदें,' तथा उन्हें इस बात का बड़ा खेद है कि लोगों में सदैव इतना मतभेद क्यों रहता है।

परन्तु मैं समझता हूं कि जो कहानी मैं कहने वाला हूँ, उसके द्वारा आप लोगों को इस विषमवाद का कारण स्पष्ट हो जाएगा। एक कुएँ में बहुत दिनों से एक मेंढ़क रहता था। वह वहीं पैदा हुआ था और वहीं उसका पालन-पोषण भी हुआ था, परन्तु फिर भी वह मेंढ़क छोटा ही था। हाँ, आज के क्रम-विकासवादी (**Evoluti onists**) उस समय वहाँ नहीं थे। जो यह बताते कि उस मेंढ़क की आँखें थीं अथवा नहीं, परन्तु यहाँ कहानी के लिए यह मान लेना चाहिए कि उसके आँखें थीं और वह प्रतिदिन

ऐसे परिश्रम के साथ जल के क्षुद्र जन्तुओं तथा कीड़ों को खाकर जल को शुद्ध रखता था कि उतना परिश्रम हमारे आधुनिक कीटतत्त्ववादियों (Bacteri ologists)❀ को यशस्वी बना दे। अस्तु, इस तरह यह मेंढक धीरे-धीरे उसी कुएँ में रहते-रहते मोटा-ताजा हो गया। कुछ समय बाद एकदिन एक दूसरा मेंढक जो समुद्र में रहता था, वहाँ आया और उसी कुएँ में गिर पड़ा।

कूप-मंडूक अर्थात् कुएँ में रहने वाले मेंढक ने उससे पूछा—"तुम कहाँ से आए हो ?"

वह बोला—"मैं समुद्र से आया हूँ।"

"समुद्र ! भला वह कितना बड़ा है ? क्या वह भी इतना ही बड़ा है, जितना कि मेरा यह कुआँ ?" और उसने यह कहते हुए कुएँ में एक किनारे से दूसरे किनारे तक छलाँग मारी।

समुद्रवाले मेंढक ने कहा—"मेरे मित्र ! भला समुद्र की उपमा इस छोटे-से कुएँ से किस तरह दे सकते हो ?"

तब उस कुएँ वाले मेंढक ने एक दूसरी छलाँग मारी और पूछा—"तो क्या वह इतना बड़ा है ?"

समुद्र वाले मेंढक ने फिर कहा—"तुम कैसी मूर्खता की बातें कर रहे हो ? क्या समुद्र की तुलना तुम्हारे कुएँ से की जा सकती है ?"

तब तो कुएँ वाले मेंढक ने चिढ़ कर कहा—'जा, जा, मेरे कुएँ से बढ़कर और कुछ हो ही नहीं सकता। संसार में

❀ जिन लोगों का यह मत है कि सभी बीमारियाँ कीड़ों से उत्पन्न होती हैं, अतः कीड़ों को नष्ट कर देना चाहिए।

इससे बड़ा और कुछ भी नहीं है । झूँठा कहीं का ! अरे, इसे पकड़ कर बाहर निकाल दो !"

भाइयो ! ऐसा संकीर्णभाव ही हमारे कलह का कारण है। मैं हिन्दू हूँ, अपने छोटे-से कुएँ में बठा हुआ यही समझता हूँ कि मेरा कुआँ ही सम्पूर्ण संसार है । ईसाई लोग भी अपने छोटे-से कुएँ में बैठे हुए यही समझते हैं कि सम्पूर्ण संसार उसी कुएँ में है तथा मुसलमान भी अपने तुच्छ कुएँ में बैठे हुए उसी को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मानते हैं। मैं आप सब अमेरिका-वासियों को धन्य कहता हूँ, क्योंकि आप हम लोगों के इन छोटे-छोटे संसारों की क्षुद्र सीमाओं को तोड़ने का महान् प्रयत्न कर रहे हैं । मैं आशा करता हूँ कि भविष्य में परमपिता परमेश्वर आपके इस उद्योग में सहायता प्रदान करके आपका मनोरथ पूर्ण करेंगे।

सार्वभौमिक हिन्दूधर्म



ऐतिहासिक युग के पहले के केवल तीन ही धर्म आज संसार में प्रचलित हैं—हिन्दूधर्म, पारसी धर्म तथा यहूदीधर्म । ये तीनों धर्म अनेकानेक प्रचंड आघातों के बाद भी लुप्त न होकर अबतक जीवित हैं—यह उनकी आन्तरिक शक्ति का प्रमाण है । परन्तु जहाँ हम यह देखते हैं कि यहूदीधर्म ईसाईधर्म को नहीं पचा सका, अपितु अपनी सर्वविजयी संतान—ईसाईधर्म—द्वारा अपने जन्मस्थान से बाहर निकाल दिया गया और यह कि अब केवल मुट्ठी भर पारसी ही अपने महान् धर्म की कहानी कहने के लिए अवशेष हैं—वहाँ भारतवर्ष में एक के पश्चात् दूसरे अनेकों धर्मपंथों का उद्भव हुआ और वे पंथ वेदप्रणीत धर्म को जड़ से हिलाते हुए से ही प्रतीत हुए, परन्तु भयानक भूकम्प के समय समुद्री-तट की जल तरंगों की भाँति यह धर्म कुछ समय के लिए इसीलिए पीछे हट गया कि बाद में वह सहस्रगुना अधिक बलशाली बनकर सामने के सर्वस्व

को डुबाने वाली बाढ़ के रूप में लौट आए, और जब यह सम्पूर्ण कोलाहल शान्त हो गया, तब समस्त धर्म-सम्प्रदाय अपनी जन्मदात्री मूल हिन्दूधर्म की विराट् काया द्वारा आत्मसात् कर लिए गए, पचा लिए गए।

आधुनिक विज्ञान के नवीतम आविष्कार, जिसकी केवल प्रतिध्वनि मात्र हैं, ऐसे वेदान्त के अत्यन्त ऊँचे आध्यात्मिक भाव से लेकर सामान्य मूर्त्तिपूजा एवं तदनुषांगक अनेकानेक पौराणिक दंतकथाओं, तथा इतना ही नहीं, अपितु बौद्धों के अज्ञेयवाद और जैनों के अनीश्वरवाद—इनमें से प्रत्येक के लिए हिन्दूधर्म में स्थान है।

तब, प्रश्न यह उठता है कि वह कौनसा एक साधारण विन्दु है, जहाँ पर इतनी विभिन्न दिशाओं में जाने वाली त्रिज्या-रेखाएँ केन्द्रस्थ होती हैं ? वह कौनसा एक सामान्य आधार है, जिस पर इतने परस्पर दिखाई देने वाले ये सभी भाव आश्रित हैं ? अब मैं इसी प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न करूँगा।

हिन्दूजाति ने अपना धर्म अपौरुषेयवेदों से प्राप्त किया है। उनकी धारणा है कि वेद अनादि तथा अनन्त हैं। श्रोताओं को सम्भव है, यह हास्यास्पद प्रतीत हो, और वे यह सोचें कि कोई पुस्तक अनादि तथा अनन्त किस प्रकार हो सकती है ? परन्तु वेद का अर्थ है—भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा आविष्कृत आध्यात्मिक तत्त्वों का संचित कोष। जिस तरह गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त मनुष्यों के पता लगने के पहले से ही अपना कार्य करता चला आया था और आज यदि मनुष्यजाति उसे भूल भी जाय, तो भी वह नियम अपना

काम करता ही रहेगा, ठीक वही बात आध्यात्मिक जगत् को चलाने वाले नियमों के सम्बन्ध में भी है। एक आत्मा का दूसरी आत्मा के साथ तथा प्रत्येक आत्मा का परमपिता परमात्मा के साथ जो नैतिक एवं दिव्य आध्यात्मिक सम्बन्ध हैं, वे हमारे पता लगाने के पहले भी थे और यदि हम उन्हें भूल भी जाँय, तो भी वे बने ही रहेंगे।

इन नियमों अथवा सत्यों का आविष्कार करने वाले 'ऋषि' कहलाते हैं तथा हम उन्हें पूर्णत्व को पहुँची हुई विभूति जानकर सम्मान प्रदान करते हैं। मुझे श्रोताओं को यह बताते हुए हर्ष होता है, कि इन अतिशय उन्नत ऋषियों में कुछ स्त्रियाँ भी थीं।

यहाँ पर कोई यह तर्क कर सकता है कि ये आध्यात्मिक नियम, नियम के रूप में अनन्त भले ही हों, परन्तु इनका आदि तो अवश्य ही होना चाहिए। वेद हमें यह सिखाते हैं कि सृष्टि का (अतः सृष्टि के इन नियमों का भी) न आदि है और न अन्त। विज्ञान ने हमें यह सिद्ध कर दिखाया है कि सम्पूर्ण विश्व की समस्त शक्ति समष्टि का परिणाम सदैव एक-सा रहता है। तो फिर, यदि कोई ऐसा समय था जबकि किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं था, उस समय यह सम्पूर्ण व्यक्त शक्ति कहाँ थी ? कोई-कोई यह कहते हैं कि ईश्वर में ही वह सब अक्रिय रूप से निहित थी। तब तो ईश्वर कभी निष्क्रिय तथा कभी सक्रिय है, इससे तो वह विकारशील हो जाएगा। प्रत्येक विकारशील पदार्थ मिश्रित होता है तथा प्रत्येक मिश्रित पदार्थ में वह परिवर्तन अवश्यम्भावी है, जिसे हम विनाश कहते हैं। अतः इस प्रकार से तो ईश्वर की मृत्यु हो जाएगी, जो कि सर्वथा असम्भव एवं हास्यास्पद कल्पना है। अस्तु,

ऐसा समय कभी नहीं था, जब यह सृष्टि नहीं थी, इसलिए यह सृष्टि अनादि है।

मैं एक उपमा दूँ, स्रष्टा तथा सृष्टि मानो दो रेखाएँ हैं, जिनका न आदि है, न अन्त, और जो समानान्तर हैं। ईश्वर नित्यक्रियाशील महाशक्ति स्वरूप, सर्व-विधाता है, जिसकी प्रेरणा से प्रलय-पयोधि में से नित्यशः एक के पश्चात् दूसरे ब्रह्माण्ड का सृजन होता है, उनका कुछ समय तक पालन होता है और तदुपरान्त वे फिर विनष्ट कर दिए जाते हैं। 'सूर्या-चन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' अर्थात् 'इस सूर्य तथा इस चन्द्रमा को विधाता ने पूर्व कल्पों के सूर्य तथा चन्द्रमा की भाँति निर्मित किया है'—इस वाक्य का नित्य पाठ प्रत्येक हिन्दू बालक प्रतिदिन अपने गुरु के साथ किया करता है और यह सिद्धान्त आधुनिक विज्ञान के साथ मेल खाता है।

मैं यहाँ पर खड़ा हूँ। मैं यदि अपनी आँख बन्द करके अपने अस्तित्व को समझने का प्रयत्न करूँ कि मैं क्या हूँ—'मैं' 'मैं', 'मैं', तो मुझमें किस भाव का उदय होता है? यह कि मैं शरीर हूँ। तो क्या मैं भौतिक पदार्थों के समूह के अतिरिक्त और कुछ नहीं हूँ? वेदों की घोषणा है—'नहीं', मैं शरीर में रहने वाली आत्मा हूँ, मैं शरीर नहीं हूँ। शरीर मर जाएगा, परन्तु मैं नहीं मरूँगा। मैं इस शरीर में विद्यमान हूँ और जब इस शरीर का पतन होगा, तब भी मैं विद्यमान रहूँगा ही। इस शरीर को ग्रहण करने से पूर्व भी मैं विद्यमान था। आत्मा की सृष्टि किसी पदार्थ से नहीं हुई है, क्योंकि सृष्टि का अर्थ है भिन्न-भिन्न द्रव्यों का संयोग, तथा इस संयोग का अर्थ होता है—भविष्य में अवश्यम्भावी वियोग। अतः यदि आत्मा का सृजन हुआ, तो उसकी मृत्यु भी होनी चाहिए। इससे सिद्ध होगया कि

आत्मा का सृजन नहीं हुआ था, वह कोई सृष्ट पदार्थ नहीं है। फिर, कुछ लोग जन्म से ही सुखी होते हैं, पूर्ण स्वास्थ्य का आनन्द भोगते हैं, उन्हें सुन्दर शरीर, उत्साहपूर्ण मन तथा सभी आवश्यक सामग्रियाँ प्राप्त रहती हैं। अन्य कुछ लोग जन्म से दुःखी होते हैं, किसी के हाथ-पाँव नहीं होते, कोई मूर्ख होते हैं और जिस-तिस प्रकार से अपने दुःखमय जीवन के दिन व्यतीत करते हैं। ऐसा क्यों हैं? यदि ये सभी एक ही न्यायी तथा दयालु ईश्वर द्वारा उत्पन्न किए गए हैं, तो फिर उसने एक को सुखी तथा दूसरे को दुःखी क्यों बनाया? ईश्वर ऐसा पक्षपाती क्यों है? फिर यह मान लेने से भी बात नहीं सुधर सकती है, कि जो इस वर्त्तमान जीवन में दुःखी हैं, वे भावी-जीवन में पूर्ण सुखी रहेंगे। न्यायी तथा दयालु ईश्वर के राज्य में मनुष्य इस जीवन में भी दुःखी क्यों रहें? दूसरी बात यह है कि सृष्टि-उत्पादक ईश्वर को मान्यता देने वाला यह सिद्धान्त सृष्टि में इस विषमता के लिए कोई कारण बताने का प्रयत्न तक नहीं करता, अपितु वह तो केवल एक सर्वशक्तिमान स्वेच्छाचारी पुरुष के निष्ठुर व्यवहार को ही प्रकट करता है। इस तरह यह स्पष्ट ही है कि यह कल्पना युक्तिविरुद्ध है। अतः यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इस जन्म के पूर्व ऐसे कारण होने ही चाहिए, जिनके फलस्वरूप मनुष्य इस जन्म में सुखी अथवा दुखी हुआ करता है और यह कारण है उसी के पूर्वानुष्ठित कर्म। अच्छा, मनुष्य के शरीर तथा मन की गठन उसके पिता-पितामह आदि के शरीर और मन के अनुरूप होती है, ऐसा आनुवंशिकता का सिद्धान्त क्या उपर्युक्त समस्या का समुचित उत्तर नहीं होगा? यह स्पष्ट है कि जीवनस्रोत जड़ तथा चैतन्य—इन दो धाराओं में प्रवाहित हो रहा है। यदि जड़ तथा जड़ के विकार ही आत्मा, मन, बुद्धि आदि हम जो कुछ हैं, उन सबके उपर्युक्त

कारण सिद्ध हो सकते हैं, तो फिर और स्वतंत्र आत्मा के अस्तित्व को मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। परन्तु यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि चैतन्य का विकास जड़ से हुआ है। अस्तु, यह स्वीकार कर लेने पर कि एक जड़ पदार्थ से ही सबकुछ सृष्ट हुआ है, यह स्वीकार करना भी निस्संदेह युक्तियुक्त होगा कि एक मूल चैतन्य द्वारा ही सृष्टि के सम्पूर्ण कार्य का निर्वाह हो रहा है और यह केवल युक्तियुक्त ही नहीं. अपितु वांछनीय भी है। परन्तु यहाँ उसकी आलोचना करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

निस्संदेह, यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि कुछ शारीरिक प्रवृत्तियाँ माता-पिता से प्राप्त होती हैं, परन्तु इसका सम्बन्ध शारीरिक गठन से है, जिसके द्वारा जीवात्मा की कोई विशेष प्रवृत्ति प्रकट हुआ करती है। उसकी इस प्रवृत्ति विशेष का कारण उसी के पूर्वकृत कर्म हुआ करते हैं। एक विशेष प्रवृत्ति वाला जीवात्मा 'योग्यं योग्येन युज्यते' इस नियम के अनुसार उसी शरीर में जन्म ग्रहण करता है, जो उस प्रवृत्ति को प्रकट करने के लिए सबसे उपर्युक्त आधार हो। यह पूर्ण रूप से विज्ञान-सङ्गत है, क्योंकि विज्ञान कहता है कि प्रवृत्ति अथवा स्वभाव अभ्यास से बनता है और अभ्यास बारम्बार अनुष्ठान का फल है। इस तरह एक नवजात बालक की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का कारण बताने के लिए बारम्बार अनुष्ठित पूर्व कर्मों को मानना आवश्यक हो जाता है। और चूंकि वर्त्तमान जीवन में इस स्वभाव की प्राप्ति नहीं की गई, अतः वह उसे पूर्व जीवन से ही प्राप्त हुआ है।

इस पर एक शङ्का की जा सकती है। अच्छा, ये सभी बातें तो मानली गईं, परन्तु कैसी बात है कि मुझे अपने पूर्व-

जन्म की कोई भी बात याद नहीं है? इसका समाधान भी है। मैं अभी अँग्रेजी बोल रहा हूँ। यह मेरी मातृभाषा नहीं है। सच पूछा जाय तो इस समय मेरी मातृभाषा का कोई भी शब्द मेरे हृदय में उपस्थित नहीं है, परन्तु उन शब्दों को सामने लाने का कुछ प्रयत्न करते ही, वे मेरे मन में उमड़ आते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि मानस-समुद्र की सतह पर जो कुछ रहता है, हमें वही बोद्धगम्य हुआ करता है और भीतर, उसकी गहराई में हमारी सम्पूर्ण अनुभवराशि निहित रहती है; केवल प्रयत्न तथा उद्यमपूर्वक मथंन करने की आवश्यकता है। ये सभी अनुभव ऊपर सतह पर उठ आएँगे तथा पूर्वजन्मों की स्मृति जाग उठेगी।

पूर्व-जन्म के सम्बन्ध में यही साक्षात् प्रमाण है। परीक्षा द्वारा ही किसी मतवाद की सत्यता पूर्णतः प्रमाणित होती है। ऋषिगण सम्पूर्ण संसार को ललकार कर कह रहे हैं कि हमने उस रहस्य का पता लगा लिया है, जिसके द्वारा स्मृति-सागर की गम्भीरतम गहराई तक का मन्थन किया जा सकता है—उसका प्रयोग करो और तुम अपने पूर्वजन्मों की स्मृति को प्राप्त कर लोगे।

अतः देखा गया कि हिन्दू का यह विश्वास है कि वह आत्मा है। "इस आत्मा को शस्त्र नहीं काट सकते, अग्नि नहीं जला सकती, पानी गीला नहीं कर सकता और वायु नहीं सुखा सकती।" हिन्दुओं की यह धारणा है कि आत्मा एक ऐसा वृत्त है, जिसकी परिधि कहीं नहीं है, यद्यपि उसका केन्द्र शरीर में अवस्थित है; और मृत्यु का अर्थ केवल इतना ही है कि इस केन्द्र का एक शरीर से दूसरे शरीर में स्थानान्तरण हो जाता है। यह आत्मा भौतिक नियमों के वशीभूत नहीं है, वह स्वरूपतः

नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव है। परन्तु किसी अचिन्त्य कारण से बँधी हुई पाती है और स्वयं को जड़ ही समझने लगती है।

अब प्रश्न यह है कि यह विशुद्ध, पूर्ण तथा विमुक्त आत्मा इस तरह जड़ का दासत्व क्यों करती है? स्वयं पूर्ण होते हुए भी इस आत्मा को अपूर्णत्व की यह भ्रामक धारणा कैसे हो सकती है? हमें यह बताया जाता है कि हिन्दू लोग इस प्रश्न से किनारा कस लेते हैं और कह देते हैं कि ऐसा प्रश्न पूछा ही नहीं जा सकता। कुछ पंडित लोग आत्मा तथा जीव दोनों के बीच में कुछ पूर्णप्राय सत्ताओं के अस्तित्व की कल्पना कर लेते हैं और उन्हें अनेक तरह से बड़ी-बड़ी वैज्ञानिक संज्ञाएँ दे देते हैं। परन्तु केवल नाम दे देने से ही मीमांसा नहीं हो जाती। प्रश्न ज्यों-का-त्यों ही बना रहता है। जो पूर्ण है, उसकी पूर्णता किसी तरह भी अथवा किसी भी अंश में कम किस तरह हो सकती है? जो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव है, उसके उस 'स्वभाव' का अणुमात्र भी व्यतिक्रम किस प्रकार हो सकता है? परन्तु हिन्दू सत्य का निष्कपट पुजारी है। वह मिथ्या तर्कयुक्ति का आश्रय नहीं लेना चाहता। वह सत्यनिष्ठ की भाँति इस प्रश्न का सामना करने का साहस रखता है और उत्तर देता है— "मैं नहीं जानता। मैं नहीं जानता कि पूर्ण आत्मा अपने को अपूर्ण किस तरह समझने लगी, वह स्वयं को जड़ पदार्थों के संयोग से जड़ नियम के अधीन किस तरह मानने लगी?" परन्तु वस्तुस्थिति जो है, वही रहेगी। प्रत्येक व्यक्ति अपने को शरीर मानता है। हिन्दू यह समझने का प्रयत्न नहीं करता है कि ऐसा क्यों होता है, मनुष्य अपने को शरीर क्यों समझता है। 'यह ईश्वर की इच्छा है", यह उत्तर इस शंका का कोई समाधान

नहीं कर सकता। यह उत्तर तो हिन्दू के 'मैं नहीं जानता', उत्तर से किसी भी तरह अधिक यथार्थ नहीं है।

अतः हमने देखा कि मनुष्य की आत्मा अनादि और अमर है, पूर्ण तथा अनन्त है एवं मृत्यु का अर्थ है—एक शरीर से दूसरे शरीर में केवल केन्द्र-परिवर्त्तन। वर्त्तमान अवस्था हमारे पूर्वानुष्ठित कर्मों द्वारा निश्चित होती है तथा भविष्य वर्त्तमान कर्मों के द्वारा। आत्मा जन्म तथा मृत्यु के चक्र में निरन्तर घूमती हुई कभी ऊपर उठती है और कभी नीचे जाती है, परन्तु यहाँ एक दूसरा प्रश्न उठता है—क्या मनुष्य उस छोटी-सी नौका की भाँति है, जो प्रचण्ड तूफान में पड़कर एक क्षण के लिए किसी वेगवान् तरंग के फेनिल शिखर पर चढ़ जाती है और दूसरे ही क्षण भयानक गड्ढे में नीचे ढकेल दी जाती है; क्या मनुष्य इस तरह अपने अच्छे तथा बुरे कर्मों के नितान्त वशीभूत होकर, केवल इधर-उधर भटकता फिरता है; क्या वह कार्य-कारण के सतत-प्रवाही, सर्वकष, भीषण और गर्जनशील प्रवाह में पड़ा हुआ शक्तिहीन, असहाय, नगण्य जीव मात्र है; क्या वह उस कर्मचक्र के नीचे पड़ा हुआ एक क्षुद्र कीटाणु है, जो पति-शोक से व्याकुल विधवा के आँसुओं एवं अनाथ बालक की आहों की तनिक भी चिन्ता न करते हुए, अपने मार्ग में आने वाली सभी वस्तुओं को कुचल डालता है? इस तरह के विचार से अन्तःकरण काँप उठता है, परन्तु प्रकृति का नियम तो यही है। तो क्या फिर कोई आशा ही नहीं है? इससे बचने का कोई मार्ग ही नहीं है?—यही करुण पुकार निराशा से व्याकुल हृदय के अन्तस्थल से उपर उठी तथा उस करुणानिधान जगत्पिता के सिंहासन तक जा पहुंची। वहाँ से आशा एवं सान्त्वना की वाणी निकली तथा वह एक वैदिक

ऋषि के अन्तःकरण में प्रेरणा रूप से आविर्भूत हुई । ईश्वरीय शक्ति द्वारा अनुप्राणित इस महर्षि ने संसार के समक्ष खड़े होकर घनगम्भीर स्वर से इस आनन्द-संदेश की घोषणा की—

श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ।

× × ×

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वा ऽतिमृत्तुमेति
नान्यः पन्था विद्यते ऽयनाय ।।❀

'हे अमृत के पुत्रगण ! हे दिव्यधामवासी देवगण ! सुनो मैंने उस अनादि पुरातन पुरुष को पहिचान लिया है, जो समस्त अज्ञान-अन्धकार तथा माया से परे है । तुम केवल उस पुरुष को जानकर ही मृत्यु के चक्र से छुटकारा पा सकते हो। अन्य कोई मार्ग नहीं है ।'

'हे अमृत के पुत्रगण !' कैसा मधुर तथा आशाजनक सम्बोधन है यह ! बन्धुओ ! इसी मधुरनाम से मुझे तुम्हें पुकारने दो ।' 'हे अमृत के अधिकारीगण !' वास्तव में हिन्दू तुम्हें पापी कहना अस्वीकार करता है। तुम तो ईश्वर की सन्तान हो, अमर-आनन्द के भागीदार हो, पवित्र तथा पूर्ण आत्मा हो । तुम इस मर्त्यभूमि पर देवता हो । तुम भला पापी क्यों होगे ? मनुष्य को पापी कहना ही पाप है; वह मानव-स्वभाव पर घोर लांछन है । उठो ! आओ ! हे सिंहो ! इस मिथ्या सब को झटक कर दूर फेंकदो कि तुम भेड़ हो । तुम

❀ श्वेताश्वतर उपनिषद्, २–५, ३–८ ।

तो जरा-मरण-रहित नित्यानन्दमय आत्मा हो। तुम जड़ पदार्थ नहीं हो। तुम शरीर नहीं हो। जड़ पदार्थ तो तुम्हारा गुलाम है, तुम उसके गुलाम नहीं हो।

अतः वेद ऐसी घोषणा नहीं करते कि यह सृष्टि-व्यापार कुछ भयावह, निर्दय अथवा निर्मम विधानों का प्रवाह है और न यही कि वह कार्य-कारण का एक अच्छेद्य बंधन है, अपितु वे यह घोषित करते हैं कि इन सब प्राकृतिक नियमों के मूल में, प्रत्येक अणु-परमाणु में तथा शक्ति के प्रत्येक स्पन्दन में ओत-प्रोत वही एक पुराणपुरुष विराजमान है, 'जिसके आदेश से वायु चलती है, अग्नि जलती है, बादल बरसते हैं तथा मृत्यु पृथ्वी पर इधर-उधर नाचती है।'॰

और उस पुरुष का स्वरूप क्या है? वह सर्वव्यापी, शुद्ध निराकार, सर्वशक्तिमान है, सबके ऊपर उसकी पूर्ण दया है। "तू हमारा पिता है, तू हमारी माता है, तू हमारा परम प्रेमी मित्र है, तू ही सभी शक्तियों का मूल है, तू हमें शक्ति दे। तू ही इन अखिल भुवनों का भार वहन करने वाला है, तू मुझे इस जीवन के क्षुद्र-भार को वहन करने में सहायता प्रदान कर। वैदिक ऋषियों ने यही गाया है। हम उसकी पूजा किस तरह करें? उसकी पूजा प्रेम द्वारा ही की जा सकती है ऐहिक तथा पारत्रिक समस्त प्रिय वस्तुओं से भी अधिक प्रिय जानकर उस परम प्रेमास्पद की पूजा करनी चाहिए।"

शुद्ध प्रेम के सम्बन्ध में वेद हमें इसी तरह की शिक्षा देते हैं। अब यह देखा जाय कि भगवान् श्रीकृष्ण ने, जिन्हें

॰ भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्दुश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः॥
कठोपनिषद् २।३।३

हिन्दू लोग पृथ्वी पर ईश्वर का पूर्णावतार मानते हैं, इस प्रेम के पूर्ण विकास की साधना के सम्बन्ध में हमें क्या उपदेश दिया है।

उन्होंने कहा है कि इस संसार में मनुष्य को कमल के पत्ते की भाँति रहना चाहिये। जिस तरह कमल का पत्ता पानी में रहकर भी उससे नहीं भीगता, उसी तरह मनुष्य को भी संसार में रहना चाहिए—उसका हृदय ईश्वर की ओर लगा रहे तथा उसके हाथ निर्लिप्त भाव से कार्य करने में लगे रहें।

इहलोक अथवा परलोक में पुरस्कार की प्रत्याशा से ईश्वर से प्रेम करना बुरी बात नहीं है, परन्तु केवल प्रेम के लिए ईश्वर से प्रेम करना सबसे अच्छा है और उसके निकट यही प्रार्थना करना उचित है—

न धनं न जनं न च सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्ति रहैतुकी त्वयि॥

"हे भगवन्, मुझे न तो सम्पत्ति चाहिए, न सन्तान, न विद्या। यदि तेरी इच्छा है, तो मैं सहस्रों बार जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़ूं, परन्तु हे प्रभो, तू मुझे केवल इतना ही दे कि मैं फल की आशा त्यागकर तेरी भक्ति करूं, केवल प्रेम के लिए ही तुझ पर मेरा निःस्वार्थ प्रेम हो।" भगवान् श्रीकृष्ण के शिष्य धर्मराज युधिष्ठिर उस समय भारतवर्ष के सम्राट् थे, उनके शत्रुओं ने उन्हें राज्यसिंहासन से च्युत कर दिया था तथा उन्हें अपनी साम्राज्ञी के साथ हिमालय के जंगल में आश्रय लेना पड़ा था। वहाँ एक दिन साम्राज्ञी ने उनसे प्रश्न किया—"हे नाथ! आप इतने धार्मिक हैं कि लोग आपको धर्मराज कहते हैं, परन्तु ऐसा होते हुए भी आपको इतना दुःख क्यों सहना पड़ता है?" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—"महारानी! देखो, यह हिमालय

कैसा भव्य तथा सुन्दर है ! मैं इससे प्रेम करता हूं, यह मुझे कुछ नहीं देता, परन्तु मेरा स्वभाव ही ऐसा है कि मैं भव्य तथा सुन्दर वस्तु से प्रेम करता हूँ, और इसीलिए मैं इस पर प्रेम रखता हूँ। इसी तरह मैं ईश्वर से प्रेम करता हूँ। वह अखिल सौन्दर्य एवं समस्त सुखमा का मूल है। वही एक ऐसा प्रेमपात्र है जिससे प्रेम करना चाहिये। उससे प्रेम करना मेरा स्वभाव है और इसीलिए मैं उससे प्रेम करता हूँ। मैं किसी बात के लिए उससे प्रार्थना नहीं करता, उससे कोई वस्तु नहीं माँगता, उसकी जहाँ इच्छा हो मुझे रक्खे, मैं तो प्रत्येक अवस्था में केवल प्रेम के लिए ही उससे प्रेम करना चाहता हूँ, मैं प्रेम में सौदा नहीं करना चाहता।" ×

वेद कहते हैं कि आत्मा ब्रह्म स्वरूप है, वह केवल पंचभूतों के बन्धन में बंध गई है, और उन बन्धनों के टूट जाने पर वह अपने पूर्व पूर्णत्व को प्राप्त हो जाएगी। इस अवस्था का नाम 'मुक्ति' है, जिसका अर्थ है स्वाधीनता—अपूर्णता, जन्म-मृत्यु, आधि-व्याधि से छुटकारा।

आत्मा का यह बन्धन केवल ईश्वर की कृपा से ही टूट सकता है और उसकी दया शुद्ध, पवित्र स्वभाव वाले लोगों को ही प्राप्त होती है। अतः पवित्रता ही उसके अनुग्रह की प्राप्ति का उपाय है। जब उसकी कृपा होती है, तब वह शुद्ध एवं पवित्र हृदय में आविर्भूत होता है। विशुद्ध तथा निर्मल मनुष्य इसी जीवन में ईश्वर-दर्शन प्राप्त करके कृतार्थ हो जाता है।

× नाहं कर्मफलान्वेषी राजपुत्रि चराम्युत।
ददामि देयमित्येव यजे यष्टव्यमित्युत॥
धर्म एन मनः कृष्णा स्वभावाच्चैव मे धृतम्।
धर्मवाणिज्यको हीनो जघन्यो धर्मवादिनाम्॥
— माहभारत, वनपर्व, ३१।२।५

"उस समय उसकी सम्पूर्ण कुटिलता नष्ट हो जाती है तथा सभी संदेह दूर हो जाते है।" ❀ तब वह कार्य-कारण के भयानक नियम के हाथ का खिलौना नहीं रह जाता। हिन्दू धर्म का मूल-भूत सिद्धान्त यही है—उसका यथार्थ भाव यही है। हिन्दू, शब्दों तथा सिद्धान्तों के जाल में समय नहीं गँवाना चाहता। यदि इस साधारण वैषयिक जीवन के परे और भी कोई अवस्था है, कोई अतीन्द्रिय जीवन है, तो वह उसका प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहता है। यदि उसमें कोई आत्मा है, जो जड़ वस्तु नहीं है, यदि कोई दयामय सर्वव्यापी परमात्मा है, तो वह उसका साक्षात्कार कर लेना चाहता है, क्योंकि ईश्वर के केवल प्रत्यक्ष दर्शन से ही उसकी सभी शंकाऐं दूर होंगी। अतः हिन्दू-ऋषि आत्मा के सम्बन्ध में, ईश्वर के सम्बन्ध में यही सर्वोत्तम प्रमाण देता है कि "मैंने आत्मा का दर्शन किया है, मैंने ईश्वर का दर्शन किया है।" और यही पूर्णत्व की एकमात्र शर्त है। भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरों अथवा सिद्धान्तों पर विश्वास करने के प्रयत्न हिन्दू-धर्म नहीं हैं, अपितु हिन्दू धर्म तो प्रत्यक्ष अनुभूति अथवा साक्षात्कार का धर्म है। केवल विश्वास का नाम ही हिन्दू-धर्म नहीं है। हिन्दू-धर्म का मूल मंत्र है—'मैं आत्मा हूँ, यह विश्वास होना एवं तद्रूप बन जाना।'

अस्तु, हिन्दुओं की समस्त साधना-प्रणाली का लक्ष्य है—निरन्तर अध्यवसाय द्वारा पूर्ण बन जाना, देवता बन जाना, ईश्वर के समीप पहुंच कर उसके दर्शन कर लेना। और इस तरह ईश्वर सान्निध्य को प्राप्त होकर उनके दर्शन कर लेना,

---

❀ भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥
मुण्डकोपनिषद् २।२।८

उन सर्व-लोक-पिता ईश्वर की भांति पूर्ण हो जाना—यही यथार्थ हिन्दू धर्म है।

और जब मनुष्य पूर्णत्व को प्राप्त कर लेता है, तब उसका क्या होता है ? तब तो वह असीम आनन्द का जीवन व्यतीत करता है। वह अन्य सभी लाभों की अपेक्षा उत्कृष्ट लाभ-स्वरूप परमानन्दधाम ईश्वर को प्राप्त करके परम आनन्द का अधिकारी बन जाता है।

सभी हिन्दू इस विषय में एकमत हैं। भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न पंथों का इस विषय में एक ही मत है। परन्तु अब बात यह है कि तुरीय अथवा निर्विकल्प अवस्था का ही नाम पूर्णावस्था है तथा यह निर्विकल्प अवस्था एकमेव, अद्वितीय एवं गुणातीत है, जिसमें व्यक्तित्व कदापि नहीं रह सकता। अतः जब आत्मा पूर्णत्व को, इस निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त कर लेती है, तब वह ब्रह्म के साथ एकता को प्राप्त हो जाती है और द्वैत-ज्ञान से रहित हो जाने के कारण वह स्वयं ही सत्स्वरूप, ज्ञान स्वरूप तथा आनन्द स्वरूप हो जाती है। हम इस अवस्था के सम्बन्ध में किन्हीं-किन्हीं पाश्चात्य दार्शनिकों के ग्रन्थों में बारम्बार यह पढ़ा करते हैं कि मनुष्य अपने व्यक्तित्व को खोकर जड़ता को प्राप्त करता है अथवा पत्थर की भाँति बन जाता है। इ उन पंडितों की अनभिज्ञता ही दिखाई देती है, क्योंकि, 'जिन्हें कभी चोट नहीं लगी है, वे ही चोट के दाग की ओर हँसी की दृष्टि से देखते हैं।'

मैं आपको बताता हूं कि ऐसी कोई बात नहीं होती। यदि इस एक क्षुद्र शरीर में आत्मबोध होने से इतना आनन्द होता है, तो दो शरीरों में आत्मबोध का आनन्द अधिक उत्कट होना चाहिए और उसी प्रकार क्रमशः अनेक शरीरों में आत्म-

बोध के साथ-साथ ग्रानन्द की मात्रा भी ग्रधिकाधिक बढ़नी चाहिए ग्रौर जब विश्वात्मा का बोध हो जायगा, तो ग्रानन्द की परम-ग्रवस्था प्राप्त हो जाएगी।

ग्रस्तु, उस ग्रसीम विश्वात्मक व्यक्तित्व की प्राप्ति के हेतु इस दु:खमय क्षुद्र व्यक्तित्व के बन्धन का ग्रन्त होना चाहिए। जब मैं प्राण स्वरूप हो जाऊँगा, तभी मृत्यु के हाथ से मेरा छुटकारा हो सकता है। जब मैं ग्रानन्द स्वरूप हो जाऊंगा, तभी मेरे दु:ख का ग्रन्त हो सकता है। जब मैं ज्ञान स्वरूप हो जाऊंगा, तभी सम्पूर्ण ग्रज्ञान का ग्रन्त हो सकता है। विज्ञान भी ग्रन्त में इसी सिद्धान्त पर ग्रा पहुंचा है। विज्ञान शास्त्र ने यह सिद्ध कर दिया है कि हम जो इस शरीर को प्रत्यक्ष तथा सदैव एकसा मानते हैं, वह भ्रम है। हमारा यह भौतिक व्यक्तित्व भ्रममात्र है। वास्तव में इस निरवच्छिन्न जड़-सागर में यह क्षुद्र शरीर तरंग की भाँति सदैव परिवर्तित होता रहता है। प्रतिक्षरा नवीन होता रहता है। परन्तु हमारा चैतन्य ग्रंश कभी भी परिवर्तनशील ग्रथवा भ्रमात्मक नहीं है, इसीलिए वह पूर्णतया सत्य है, ग्रौर इसी कारण केवल यह ग्रद्वैत ज्ञान ही कि 'मैं एकमेव द्वितीय ग्रात्मा हूं' एकमात्र युक्तियुक्त सिद्धान्त है।

विज्ञान एकत्व की खोज के ग्रतिरिक्त ग्रौर कुछ नहीं है। कोई विज्ञान शास्त्र जैसे ही पूर्ण एकता तक पहुंच जाएगा, वैसे ही उसका ग्रौर ग्रागे बढ़ना रुक जाएगा, क्योंकि तब तो वह ग्रपने लक्ष्य को प्राप्त कर चुकेगा। उदाहरण के लिए, रसायन शास्त्र यदि एकबार उस मूल द्रव्य का पता लगाले, जिससे ग्रन्य सभी द्रव्य बन सकते हैं, तो फिर वह ग्रौर ग्रागे रहीं बढ़ सकेगा। पदार्थ विज्ञानशास्त्र जब उस एकमूल शक्ति का पता लगा लेगा, जिससे ग्रन्य शक्तियाँ बाहर निकली हैं, तब वह पूर्णता पर

पहुंच जाएगा। इसी तरह धर्मशास्त्र भी उस समय पूर्णता को प्राप्त हो जाएगा, जब वह उस मूल कारण को जान लेगा, जो इस मृत्यलोक में एकमात्र अमृत स्वरूप है, जो इस नित्य-परिवर्तनशील संसार का एकमात्र अचल-अटल आधार है, जो एकमात्र परमात्मा है तथा अन्य सभी आत्माऐं जिसके प्रतिविम्ब रूप हैं। इस तरह अनेकेश्वरवाद, द्वैतवाद आदि में से होते हुए इस अद्वैतवाद की प्राप्ति होती है। धर्मशास्त्र इससे आगे नहीं जा सकता। समस्त विद्वानों का चरम लक्ष्य यही है।

सभी शास्त्र अन्त में इसी सिद्धान्त को पहुंचने वाले हैं। आज विज्ञानशास्त्र इस दृश्यमान जगत को 'सृष्टि' का नाम नहीं देना चाहता, वह उसे 'विकास' मात्र कहता है। और हिन्दू को अत्यन्त प्रसन्नता इस बात की है कि वह जिस सिद्धान्त को इतने दिनों से अपने अन्तःकरण में धारण किए हुए था, वही सिद्धान्त आज अत्यन्त प्रबल भाषा में, विज्ञान के अत्यन्त आधुनिक प्रयोगों द्वारा, अधिक स्पष्ट रूप से सिद्ध करके, सिखाया जा रहा है।

अब हम वेदान्त दर्शन के उच्च शिखर से नीचे उतर कर साधारण अशिक्षित लोगों के धर्म की ओर आते हैं। पहले मैं आपको यह बता देना चाहता हूँ कि भारतवर्ष में अनेकेश्वरवाद नहीं है। यदि कोई व्यक्ति प्रत्येक मन्दिर में खड़ा होकर सुने तो यही पाएगा कि भक्तगण सर्वव्यापकत्व से लेकर ईश्वर के सभी गुणों का आरोप उन मूर्त्तियों में करते हैं। यह अनेकेश्वरवाद नहीं है और न इसका नाम 'किसी देवता विशेष का प्राधान्यवाद' ही हो सकता है। गुलाब को अन्य चाहे कोई भी नाम क्यों न दे दिया जाय, परन्तु वह सुगन्ध तो वैसी ही मधुर देता

रहेगा। केवल नाम से ही तो किसी वस्तु का पूर्ण स्पष्टीकरण नहीं हो सकता।

मुझे यहाँ बचपन की एक बात याद आती है। एक ईसाई पादरी कुछ मनुष्यों की भीड़ जमाकर के धमोपदेश कर रहा था। अनेक मजेदार बातों के साथ ही उस पादरी ने यह भी कहा—"यदि मैं तुम्हारी देवमूर्त्ति को एक डंडा लगाऊँ तो वह मेरा क्या कर सकती है ?" एक श्रोता ने यह सुनकर तुरन्त ही चुभता सा उत्तर दे डाला—"यदि मैं तुम्हारे ईश्वर को गाली दे दूं तो वह मेरा क्या कर सकता है?" पादरी बोला—"मृत्यु के पश्चात वह तुम्हें दंड देगा।" हिन्दू भी तनकर बोला—"ठीक उसी तरह जब तुम मरोगे, तब हमारी देवमूर्त्ति भी तुम्हें उचित पुरस्कार देगी।" बृक्ष अपने फलों से जाना जाता है। जब मैं मूर्त्तिपूजकों में ऐसे मनुष्यों को देखता हूँ जिनका चरित्रबल, आध्यात्मिक भाव तथा प्रेम अपनी सानी नहीं रखते, तब तो मैं रुककर यही सोचता हूँ—"क्या पाप से भी पवित्रता उत्पन्न हो सकती है ?"

मनुष्य का महान शत्रु अन्धविश्वास है; परन्तु हठधर्मी तो उससे भी अधिक बढ़कर है। अच्छा, यदि ईश्वर सर्वव्यापी है, तो फिर ईसाई गिरजाघर नामक एक. स्वतंत्र स्थान में उसकी आराधना करने के लिए क्यों जाते हैं? वे क्रास को इतना पवित्र क्यों मानते हैं ? वे प्रार्थना के समय आकाश की ओर मुँह क्यों करते हैं ? कैथोलिक ईसाइयों के गिरजाघरों में इतनी मूर्त्तियाँ क्यों रहा करती हैं तथा प्रोटेस्टेंट ईसाइयों के हृदय में प्रार्थना के समय इतनी भावमयी मूर्त्तियां क्यों रहा करती. हैं ? मेरे भाइयो ! मन में किसी मूर्त्ति के बिना आगे कुछ सोच सकना उतना ही असम्भव है, जितना कि बिना श्वास लिए जीवित

रहना। स्मृति की उद्दीपक भावपरम्परा के अनुसार जड़मूर्त्ति के दर्शन से मानसिक भावविशेष का उद्दीपन हो जाता है अथवा मन में भावविशेष का उद्दीपन होने से तदनुरूप मूर्त्तिविशेष का भी आविर्भाव होता है। इसीलिए तो हिन्दू आराधना के समय वाह्यप्रतीक का उपयोग करता है। वह आपको बताएगा कि यह वाह्य-प्रतीक उसके मन को अपने ध्यान के विषय, परमेश्वर, में एकाग्रता से स्थिर रखने में सहायता देता है। इस बात को वह भी अच्छी तरह से जानता है, जितना कि आप जानते हैं कि उस मूर्ति न तो ईश्वर ही है और न वह सर्वव्यापी ही है। और सच पूछिए तो संसार के लोग'सर्व व्यापित्व'का क्या अर्थ समझते हैं? वह तो केवल एक शब्द अथवा प्रतीक मात्र है। क्या परमेश्वर का भी कोई क्षेत्रफल है? नहीं है न? तो भी हम जिस समय 'सर्वव्यापी' शब्द का उच्चारण करते हैं,उस समय विस्तृत आकाश अथवा विशाल भूमिखंड की कल्पना को ही अपने मन में लाने के अतिरिक्त और क्या करते हैं?

तात्पर्य यह है कि अपनी मानसिक प्रकृति के नियमानुसार हमें अपनी अनन्तत्व की भावना को नीलाकाश अथवा अपार-समुद्र की कल्पना से सम्बद्ध करना पड़ता है, उसी प्रकार हम पवित्रता के भाव को अपने स्वभाव के अनुसार गिरजाघर, मस्जिद अथवा क्रॉस से जोड़ लेते हैं। हिन्दू लोग पवित्रता, नित्यत्व, सर्वव्यापित्व आदि-आदि भावों का सम्बन्ध भिन्न २ देवमूर्त्तियों से जोड़ते अवश्य हैं, परन्तु अन्तर यह है कि जहाँ दूसरे लोग अपना सम्पूर्ण जीवन किसी गिरजाघर की मूर्त्ति की भक्ति में ही बिता देते हैं और उससे आगे नहीं बढ़ पाते, क्योंकि उनके लिए तो धर्म का यही अर्थ है कि वे कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों को अपनी बुद्धि द्वारा स्वीकृत करलें तथा अपने मनुष्य भाइयों

की भलाई करते रहें—वहाँ एक हिन्दू की समस्त धर्मभावना प्रत्यक्ष अनुभूति अथवा साक्षात्कार में केन्द्रीभूत हुआ करती है। मनुष्य को ईश्वर का साक्षात्कार करके स्वयं ईश्वर बनाना है। मूर्त्तियाँ, मंदिर, गिरजाघर अथवा शास्त्र ग्रन्थ तो धर्म जीवन की बाल्यावस्था में केवल आधार अथवा सहायक मात्र हैं, परन्तु उसे तो उत्तरोत्तर उन्नति ही करनी चाहिए। साधक को कहीं पर रुकना नहीं चाहिए। वेदों का वाक्य यह है कि वाह्य पूजा अथवा मूर्त्तिपूजा सबसे नीचे की अवस्था है। आगे बढ़ने का प्रयत्न करते समय मानसिक प्रार्थना साधना की दूसरी अवस्था है और सबसे उच्च अवस्था वह है जब ईश्वर का साक्षात्कार हो जाय।* देखो, वही अनुरागी साधक, जो पहले मूर्त्ति के सम्मुख झुककर पूजा-प्रणाम आदि करने में मग्न रहा करता था, अब ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् क्या कह रहा है—"उस परमात्मा को सूर्य प्रकाशित नहीं कर सकता और न चन्द्रमा अथवा तारागण ही प्रकाश दे सकते हैं, विद्युतप्रभा भी परमेश्वर को उद्भासित नहीं कर सकती, तब इस सामान्य अग्नि की तो बात ही क्या है! ये सभी ईश्वर के कारण प्रकाशित होते हैं।"* वह साधक वाह्यपूजा के अतीत हो चुका है, परन्तु वह अन्य

---

* उत्तमो ब्रह्मसद्भावो ध्यानभावस्तु मध्यमः।
स्तुतिर्जपो ऽधमो भावो बहिःपूजा ऽधमाधमा॥
—महानिर्वाण तन्त्र, ४—१२

* न तत्र यूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कतोऽय मग्निः।
तमेव भान्त मनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥
—कठोपनिषद्, २।२।१५

धर्मावलम्बियों की भाँति न तो मूर्त्तिपूजा को गाली ही देगा और न उसे पाप का मूल ही बताएगा। वह तो उसे जीवन की एक आवश्यक अवस्था जानकर स्वीकार करता है। 'शैशव ही यौवन आदि का उन्मदाता है।' तो क्या किसी वृद्ध पुरुष का अपने बचपन अथवा युवावस्था को पाप अथवा बुरा कहना उचित होगा ?

यदि कोई व्यक्ति मूर्त्ति के सहारे अपने ब्रह्मभाव को अधिक सरलता पूर्वक अनुभव कर सकता है, तो क्या उसे पाप कहना ठीक होगा ? और जब वह उस अवस्था के परे पहुंच गया है, तब भी उसके लिए मूर्त्तिपूजा को भ्रमात्मक कहना उचित नहीं है। हिन्दू की दृष्टि में मनुष्य असत्य से सत्य की ओर नहीं जारहा है, वह तो सत्य से सत्य की ओर तथा निम्न श्रेणी के सत्य से उच्च श्रेणी के सत्य की ओर आगे बढ़ रहा है। हिन्दू के मतानुसार क्षुद्र-अज्ञानी के धर्म से लेकर वेदान्त के अद्वैतवाद तक जितने भी धर्म हैं, वे सभी अपने-अपने जन्म और अवस्था भेद के अनुसार उस अनन्त ब्रह्म के ज्ञान एवं उपलब्धि के उपाय हैं तथा ये उपाय उन्नति की सीढ़ियाँ हैं। प्रत्येक जीव उस युवा गरुड़ पक्षी की भाँति है, जो धीरे-धीरे ऊँचा उड़ता हुआ एवं अधिकाधिक शक्ति सम्पादित करता हुआ, अन्त में उस प्रकाश-मय सूर्य तक जा पहुंचता है।

विभिन्नता में एकता—यही तो प्रकृति की रचना है तथा हिन्दुओं ने इसे भलीभाँति पहिचाना है। अन्य धर्मों में कुछ निश्चित मतवाद विधिबद्ध कर दिए गए हैं तथा उन्हें मानना सम्पूर्ण समाज के लिए अनिवार्य कर दिया जाता है। वे तो समाज के सम्मुख केवल एक ही नाप की कमीज रख देते हैं, जो राम, श्याम, हरि आदि सबके शरीर में जबर्दस्ती ठीक होनी

चाहिए। और यदि वह कमीज राम अथवा श्याम के शरीर में ठीक नहीं बैठती, तो उसे बिना कमीज के ही नंगे-शरीर रहना होगा। हिन्दुओं ने यह जान लिया है कि निरपेक्ष ब्रह्मतत्व की उपलब्धि, धारणा अथवा प्रकाश केवल सापेक्ष के सहारे ही हो सकती है। मूर्त्तियाँ, क्रास अथवा चाँद तो केवल आध्यात्मिक उन्नति के सहायक रूप हैं; वे जैसे बहुत सी खूँटियाँ हैं, जिनमें धार्मिक भावनाएँ अटकाई जाती हैं। ऐसी बात नहीं है कि प्रत्येक के लिए ही इन साधनों की आवश्यकता हो, परन्तु बहुतों के लिए तो यह आवश्यक हुआ ही करते हैं, और जिन्हें अपने लिए इन साधनों की आवश्यकता नहीं रहती, उन्हें यह कहने का कोई अधिकार नहीं है कि इन साधनों का आश्रय लेना अनुचित है।

यहाँ एक बात बता देनी आवश्यक है, वह यह है कि भारतवर्ष में मूर्त्तिपूजा कोई भयावह अथवा जघन्य बात नहीं है, वह व्यभिचार की जननी नहीं है, अपितु वह तो अविकसित मन के लिए उच्च आध्यात्मिक भाव को ग्रहण करने का उपाय है। हिन्दुओं में अवश्य ही बहुत से दोष हैं, परंतु यह स्मरण रखिए कि उनके वे दोष अपने शरीर को दंड देने तक ही सीमित हैं, वे कभी भी अन्य धर्मावलम्बियों का गला काटने के लिए नहीं जाते। एक धर्मान्ध हिंदू भले ही चिता पर स्वयं को जला डाले, परन्तु वह विधर्मियों को जलाने के लिए अग्नि को प्रज्वलित कभी नहीं करेगा, जैसा कि यूरोप में इनक्विजिशन (Inquisition) के समय में ईसाइयों ने किया था। फिर भी इस बात के लिए उसका धर्म इससे अधिक दोषी नहीं समझा जा सकता, जितना कि डाइनों को जलाने का दोष ईसाई धर्म पर मढ़ा जा सकता है।

अस्तु, हिन्दुओं की दृष्टि में समग्र धर्म-जगत् भिन्न-भिन्न रुचि वाले स्त्री-पुरुषों का, भिन्न-भिन्न अवस्थाओं एवं परिस्थितियों में होते हुए ईश्वर लाभ के उस एक ही लक्ष्य की ओर यात्रा करना है, आगे बढ़ना है। प्रत्येक धर्म जड़भावापन्न मानव को ब्रह्म में परिणत करने को प्रयत्नशील है और वही ईश्वर इन सब धर्मों का प्रेरक है। तो फिर ये सब धर्म इतने परस्पर विरोधी क्यों हैं? हिन्दुओं का कहना है कि ये विरोध केवल आभास मात्र हैं, वास्तविक नहीं। विभिन्न अवस्थापन्न भिन्न-भिन्न प्रकृति वाले मनुष्यों को उपयोगी होने के लिए उस एक ही सत्य ने इस तरह परस्पर विरुद्ध भाव धारण किए हैं।

एक ही ज्योति भिन्न-भिन्न रंग के काँचों में से भिन्न-भिन्न रूप से प्रकट होती है। भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले लोगों के लिए उपयोगी होने की दृष्टि से यह विचित्रता आवश्यक भी है। किन्तु प्रत्येक के अन्तस्तल में—प्रत्येक धर्म में उसी एक सत्य का राजत्व है। कृष्णावतार में भगवान् ने हिन्दुओं को यह उपदेश दिया है "मैं प्रत्येक धर्म में, मुक्तामाला में धागे की भाँति पिरोया हुआ हूं। जहाँ भी तुम्हें मानव-सृष्टि को उन्नत बनाने वाली तथा पवित्र करने वाली अत्यन्त पवित्रता एवं असाधारण शक्ति दिखाई पड़े, तो यह जानलो कि वह मेरे तेज के अंश से ही उत्पन्न हुई है।"*

---

*मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव

—गीता, ७। ७

× × ×

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

—गीता, १०। ४१

और इस शिक्षा का परिणाम क्या हुआ है? सम्पूर्ण संसार को मेरी यह चुनौती है कि वह समस्त संस्कृत दर्शनशास्त्र में मुझे एक भी ऐसी उक्ति दिखादे, जिसमें यह बताया गया हो कि केवल हिन्दुओं का ही उद्धार होगा और दूसरों का नहीं। भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास का कथन है—"हमारी जाति तथा सम्प्रदाय की सीमा के बाहर भी पूर्णत्व को पहुंचे हुए मनुष्य विद्यमान हैं।"❀

एक बात और, ऐसा प्रश्न उठ सकता है कि ईश्वर में ही अपने सभी भावों को केन्द्रित करने वाला हिन्दू अज्ञेयवादी बौद्धधर्म तथा अनीश्वरवादी जैनधर्म पर श्रद्धा किस तरह रख सकता है? यद्यपि बौद्ध तथा जैनी ईश्वर पर निर्भर नहीं रहते, फिर भी उनके धर्म में "मनुष्य में देवत्व अथवा ईश्वरत्व का विकास" इस महान् सत्य पर ही पूरा बल दिया गया है, और यही प्रत्येक धर्म का केन्द्रस्थ सत्य है। उन्होंने जगत्पिता जगदीश्वर को भले ही न देखा हो, परन्तु उसके पुत्र-स्वरूप आदर्श मनुष्य 'बुद्धदेव' अथवा 'जिन' को तो देखा है। और जिसने पुत्र को देख लिया, उसने पिता को भी देख लिया।

भाइयो! हिन्दुओं के धार्मिक विचारों का यही संक्षिप्त विवरण है। यह हो सकता है कि हिन्दू अपनी सम्पूर्ण योजना के अनुसार कार्य न कर सका हो, परन्तु यदि कभी कोई सार्वभौमिक धर्म हो सकता है, तो वह ऐसा ही होगा, जो देश अथवा काल द्वारा मर्यादित न हो; जो उस अनन्त ईश्वर की भाँति ही अनन्त हो, जिस ईश्वर के सम्बन्ध में कि वह उपदेश देता है; जिसकी ज्योति श्रीकृष्ण के भक्तों पर तथा ईसा के प्रेमियों पर,

❀ अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः।

—वेदान्तसूत्र, ३।४।३६

संतों पर तथा पापियों पर समान रूप से प्रकाशित होती हो; जो न तो ब्राह्मणों का हो, न बौद्धों का, न ईसाइयों का और न मुसलमानों का, अपितु इन सभी धर्मों का समष्टि स्वरूप होते हुए भी जिसमें उन्नति का अनन्तमार्ग खुला रहे; जो इतना व्यापक हो कि अपनी असंख्य प्रसारित बाहुओं द्वारा सृष्टि के प्रत्येक मनुष्य का आलिंगन करे तथा उसे अपने हृदय में स्थान दे, चाहे वह मनुष्य हिंसक पशु से कुछ ही उठा हुआ, अत्यन्त नीच, बर्बर तथा जंगली ही क्यों न हो, अथवा अपने मस्तिष्क एवं हृदय के सद्गुणों के कारण मानव-समाज में इतना ऊंचा क्यों न उठ गया हो कि लोग उसकी मानवी-प्रकृति में शंका करते हुए देवता की भाँति उसकी पूजा करते हों। वह विश्व-धर्म ऐसा होगा कि उसमें अविश्वासियों पर अत्याचार करने अथवा उनके प्रति असहिष्णुता प्रकट करने की नीति नहीं रहेगी। वह धर्म प्रत्येक स्त्री एवं पुरुष के ईश्वरीय स्वरूप को स्वीकार करेगा तथा उसका सम्पूर्ण बल मनुष्यमात्र को अपनी सच्ची, ईश्वरीय प्रकृति का साक्षात्कार करने के लिए सहायता देने में ही केन्द्रित रहेगा। आप ऐसा सार्वभौमिक उदार धर्म सामने रखिए तो सभी राष्ट्र आपके अनुयायी बनजाएँगे। सम्राट अशोक की धर्मसभा केवल बौद्धधर्मियों की ही थी। अकबर बादशाह की धर्मपरिषद् अधिक उपयुक्त होती हुई भी, केवल दरबार की शोभा की ही वस्तु थी। परन्तु 'प्रत्येक धर्म में ईश्वर है,' इस बात की घोषणा संसार के सभी प्रदेशों में करने का भार नियति ने अमेरिका के लिए ही रख छोड़ा था।

वही परमेश्वर. जो हिन्दुओं का ब्रह्म, पारसियों का अहुरमज्द, बौद्धों का बुद्ध, मुसलमानों का अल्लाह, यहूदियों का जिहोवा तथा ईसाइयों का स्वर्गस्थ पिता है, आपको अपने उदार

उद्देश्य को कार्यान्वित करने की शक्ति प्रदान करे। पूर्वीय आकाश में जो नक्षत्र उदित हुआ, उसने कभी धुँधला तथा कभी दैदीप्यमान होते हुए, धीरे-धीरे पश्चिम की ओर यात्रा करते-करते सम्पूर्ण संसार की परिक्रमा कर डाली और अब वह फिर पुर्वीय क्षितिज में सहस्र गुनी अधिक उज्ज्वलता के साथ उदित हो रहा है।

हे स्वाधीनता की मातृभूमि कोलम्बिया! तू धन्य है। तूने अपने पड़ौसियों के रक्त से अपना हाथ कभी कलंकित नहीं किया। तूने अपने पड़ौसियों का सर्वस्व अपहरण करके सहज ही में धनी तथा सम्पन्न होने का प्रयत्न नहीं किया, अतः तू ही सभ्य जातियों में अग्रणी होकर शान्ति की पताका फहराने की अधिकारिणी है।

ईसाई भारतवर्ष के लिए क्या कर सकते हैं



ईसाइयों को चाहिए कि वे वास्तविक दोषा-दोष की विवेचना के लिए प्रस्तुत रहें, और मुझे विश्वास है कि यदि मैं आप लोगों के दोषों का विवेचन करूँ, तो आप बुरा नहीं मानेंगे। आप लोग अपने धर्मोपदेशकों को अन्य देशों में भेजकर मूर्त्ति-पूजकों को अपने धर्म में लाने के लिए अत्यन्त उत्सुक हैं, परन्तु जो लोग अन्न बिना मर रहे हैं, उन्हें बचाने के लिए आप कोई उपाय क्यों नहीं करते? जब भारतवर्ष में भयानक अकाल पड़ा था, तो सहस्रों और लाखों हिन्दू भूख से पीड़ित होकर मर गए, परन्तु आप सब ईसाई मतावलम्बियों ने उनके लिए कुछ नहीं किया। आप लोग सम्पूर्ण हिन्दुस्तान में गिरजे बनवाते हैं, परन्तु मैं कहता हूँ कि पूर्वीय देश में धर्म का अभाव नहीं है। उनके यहाँ तो धर्म वैसे ही आवश्यकता से अधिक है। वहाँ रोटी का अभाव है, अन्न का अभाव है, हिन्दुस्तान के लाखों भूखेलोग सूखे गले से 'अन्न-अन्न, रोटी-रोटी' चिल्ला रहे हैं।

वे हम से अन्न माँगते हैं और हम उन्हें पत्थर देते हैं। क्षुधातुरों को धर्म का उपदेश देना उनका अनादर तथा तिरस्कार करना है। भूखों को आध्यात्मिकज्ञान सिखाना उनका उपहास करना है। भारतवर्ष में यदि कोई धर्म-शिक्षक धन-प्राप्ति के लिए धर्म का उपदेश करे, तो वह जाति से निकाल दिया जायगा तथा बुरी तरह से अपमानित होगा। मैं यहाँ पर अपने अन्न-वस्त्र हीन दरिद्र-भाइयों के लिए सहायता माँगने आया था; परन्तु मैं यह अच्छी तरह समझ गया हूँ कि मूर्त्तिपूजकों के लिए ईसाई धर्मावलम्बियों से और विशेषकर उन्हीं के देश में, सहायता प्राप्त करना कितना कठिन है!

बौद्धधर्म के साथ हिन्दूधर्म का सम्बन्ध



मैं बौद्ध धर्मावलम्बी नहीं हूँ, जैसा कि आप लोगों ने सुना है, परन्तु फिर भी यह कहना कोई दोष नहीं होगा कि मैं बौद्ध हूँ। यदि चीन, जापान अथवा सीलोन के निवासी उस महापुरुष बुद्ध की शिक्षा का अनुसरण करते हैं, तो भारतवर्ष उन्हें ईश्वर का अवतार मानकर उनकी पूजा करता है। आपने अभी-अभी सुना कि मैं बौद्धधर्म की समालोचना करने वाला हूँ, परन्तु इससे मेरा तात्पर्य उसके दोषों का दिग्दर्शन करना नहीं है। मैं जिन्हें इस पृथ्वी पर ईश्वर का अवतार मानता हूँ, उनके दोषा-दोष के विचार से ईश्वर मुझे बचाए। परन्तु बुद्धदेव के सम्बन्ध में हम हिन्दुओं की यह धारणा है कि उनके शिष्यों ने उनकी शिक्षाओं को ठीक-ठीक नहीं समझा। हिन्दूधर्म अर्थात् वेद-विहित-धर्म एवं जो आजकल बौद्धधर्म कहलाता है, इनमें परस्पर वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा कि यहूदी तथा ईसाई धर्मों में। ईसामसीह यहूदी संतान थे और शाक्य मुनि,

अर्थात् बुद्धदेव हिन्दू, परन्तु अन्तर यह है कि जहाँ यहूदियों ने ईसा को केवल त्याग ही नहीं दिया, अपितु उन्हें शूली पर भी चढ़ा दिया, वहाँ हिन्दुओं ने शाक्यमुनि को अवतार के रूप में ग्रहण किया है और वे उनकी पूजा करते हैं। परन्तु प्रचलित बौद्धधर्म में तथा बुद्धदेव की शिक्षाओं में जिस वास्तविक भेद को हम हिन्दू दिखाना चाहते हैं, वह विशेष कर यह है कि शाक्यमुनि ने किसी नई शिक्षा को देने के लिए अवतार नहीं लिया था। वे भी ईसा के समान धर्म की सम्पूर्त्ति के हेतु ही आए थे, उसका विनाश करने को नहीं। अन्तर इतना ही था कि जहाँ गीता को प्राचीन यहूदी ठीक से नहीं समझ पाए, वहाँ बुद्धदेव की शिक्षाओं को स्वयं उनके शिष्य ही ठीक से नहीं समझ सके। जिस तरह यहूदियों ने 'नवीन-धर्म-पुस्तक' (New Testament) में 'पुरातन-धर्म-पुस्तक' (Old Testament) की पूर्णता नहीं समझी, उसी तरह बौद्ध भी यह नहीं समझ सके कि बुद्धदेव की शिक्षाएँ हिन्दूधर्म के सत्यों की ही परिणति हैं। मैं इस बात को फिर से दुहराना चाहता हूँ कि शाक्यमुनि ध्वंस करने नहीं आए थे, अपितु वे हिन्दूधर्म की पूर्णता के सम्पादक थे। उसकी स्वाभाविक परिणत थे, उसके युक्तिसंगत विकास थे।

हिन्दूधर्म के दो भाग हैं—एक कर्मकांड और दूसरा ज्ञानकांड। ज्ञानकांड का विशेष पठन-पाठन सन्यासीलोग किया करते है। ज्ञानकांड में जातिभेद नहीं है। भारतवर्ष में उच्च अथवा नीच जाति के सभी लोग सन्यासी हो सकते हैं। और तब उनमें कोई जातिभेद नहीं रह जाता। धर्म में जातिभेद नहीं है, जाति तो एक सामाजिक बन्धन मात्र है। शाक्यमुनि स्वयं सन्यासी थे, और यह उनके विशाल-हृदय की महिमा ही

थी कि उन्होंने वेदों के छिपे हुए सत्यों को निकाल कर सम्पूर्ण संसार में उनका प्रचार किया । इस संसार में सबसे पहले वे ही ऐसे हुए, जिन्होंने धर्मप्रचार की प्रथा को चलाया— इतना ही नहीं, अपितु मनुष्य को दूसरे धर्म से अपने धर्म में दीक्षित करने का विचार भी सबसे पहले उन्हीं के मन में उदय हुआ ।

सभी भूतों के प्रति तथा विशेषकर अज्ञानी एवं दीनजनों के प्रति अद्भुत सहानुभूति ही. इस महान् पुरुष के विशेष गौरव की बात है । उनके कुछ शिष्य ब्राह्मण भी थे। बुद्ध के धर्मोपदेशकाल में 'संस्कृत' भारत की जनभाषा नहीं रह गई थी। उस समय वह केवल पंडितों की भाषा थी । बुद्धदेव के कुछ ब्राह्मण शिष्यों ने उनके उपदेशों का अनुवाद संस्कृत भाषा में करना चाहा था परन्तु बुद्धदेव उनसे सदैव यही कहते रहे— मैं दरिद्र तथा साधारणजनों के लिए आया हूँ, अतः मुझे उन्हीं की भाषा में शिक्षा देने दो ।' और इसीलिए उनके अधिकांश उपदेश अबतक भारत की तत्कालीन भाषा— प्राकृत—में पाए जाते हैं।

दर्शनशास्त्र का आसन कितना ही ऊँचा क्यों न हो, परन्तु जबतक इस लोक में मृत्यु है, जबतक मानव हृदय में दुर्बलता है, जबतक मनुष्य के अन्तःकरण से दुर्बलता-जनित करुण-क्रन्दन बाहर निकलता है, तबतक इस संसार में ईश्वर में विश्वास भी बना ही रहेगा ।

दर्शनशास्त्र की ओर से देखने पर, उक्त महापुरुष के शिष्यों में वेदों की सनातन चट्टान पर बहुत हाथ-पर पटके, परन्तु वे उसे तोड़ नहीं सके, और दूसरी ओर से देखने पर उन्होंने यही किया कि जनता के बीच से उस सनातन परमेश्वर को उठा ले गए, जो प्रत्येक स्त्री-पुरुष के प्रेम तथा भक्ति का

आश्रयस्थल है । इसका फल यह हुआ कि धर्म भारतवर्ष में स्वाभाविक मृत्यु को प्राप्त होगया तथा आज इस धर्म की जन्म भूमि भारतवर्ष में एक भी ऐसा स्त्री अथवा पुरुष नहीं है, जो स्वयं को बौद्ध धर्मावलम्बी कहे !

परन्तु बौद्धधर्म के तिरोधान से कुछ अंशों में हिन्दूधर्म भी क्षतिग्रस्त हुआ । उसमें समाज-सुधार का वह उत्साह तथा तत्परता, प्राणिमात्र के प्रति वह अद्भुत् सहानुभूति तथा दया एवं सर्वत्र ओतप्रोत वह अपूर्व जागृति की लहर नहीं रह गई, जिसे बौद्धधर्म ने जन-जन में प्रवाहित किया था और जिसके फलस्वरूप भारतीय समाज इतना उन्नत तथा महान् होगया था कि तत्कालीन भारतवर्ष के सम्बन्ध में लिखने वाले यूनानी इतिहासकार को यह लिखना पड़ा कि ऐसा एक भी हिन्दू दिखाई नहीं देता, जो भूठ बोलता हो और ऐसी एक भी हिन्दू नारी नहीं है, जो पतिव्रत धर्म से भ्रष्ट हो !

हिन्दूधर्म बौद्धधर्म के बिना नहीं रह सकता और न बौद्धधर्म ही हिन्दूधर्म के बिना रह सकता है । हमारे पारस्परिक वियोग ने यह स्पष्टरूप से प्रकट कर दिया है कि बौद्ध, ब्राह्मणों के दर्शनशास्त्र तथा मस्तिष्क के बिना नहीं ठहर सकते, और न ब्राह्मण ही बौद्धों के विशाल-हृदय के बिना ठहर सकते हैं—यह निश्चित है । बौद्ध तथा ब्राह्मण के बीच यह विभेद ही भारतवर्ष की अवनति का कारण है । यही कारण है कि आज भारतवर्ष तीस करोड़ भिक्षुकों की आवासभूमि हो गया है तथा सहस्र वर्षों से विजातीय आक्रमणकारियों का दास बना हुआ है । अतः आओ, हम ब्राह्मणों के उस अपूर्व मस्तिष्क के साथ महापुरुष बुद्धदेव के उस अद्भुत, हृदय महानुभावता तथा लोकहितकारी शक्ति को मिलाकर एक कर दें !

———

विदा



संसार में समस्त धर्मों के सम्मेलन की सम्भावना आज पूर्णरूप से सत्य सिद्ध हो गई है। परमेश्वर ने उन लोगों की सहायता की है, जिन्होंने इसका आयोजन किया है तथा उनके निस्वार्थ प्रयत्न को सफलता रूपी शुभफल द्वारा विभूषित किया है।

मैं उन महानुभावों को धन्यवाद देता हूँ, जिनके विशाल हृदय और सत्य के प्रति अनुराग ने पहले इस अद्भुत कल्पना का स्वप्न देखा तथा फिर उसे कार्यरूप में परिणत कर दिया। उन उदार-भावों को मेरा धन्यवाद है, जिनकी इस सभामंच पर वर्षा हुई है। इस विद्वान् श्रोतामंडल को भी मेरा धन्यवाद है, जिसने मुझ पर समान रूप से कृपा की है तथा ऐसे प्रत्येक भाव को आदरपूर्वक स्वीकार किया है, जो मतमतान्तरों के पारस्परिक घर्षणों को हल्का करने का प्रयत्न करता है। इस समरसता की मंजुल ध्वनि में कुछ बेसुरे स्वर भी बीच-बीच में सुनाई पड़े हैं। उन्हें मेरा विशेष धन्यवाद है, क्योंकि

उन्होंने अपने स्वर की विचित्रता से इस समरसता को और भी अधिक मधुर बना दिया है।

धर्म-समन्वय की सर्वसामान्य भित्ति के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा चुका है। इस समय मैं इस विषय पर अपना मत आपके सामने नहीं रखूँगा, परन्तु यह कह दूँ कि यदि कोई महाशय यह आशा करें कि यह समन्वय किसी एक धर्म की विजय तथा अन्य सभी धर्मों के विनाश से सम्भव होगा, तो उनसे मेरा यह कहना है कि "भाई! तुम्हारी यह आशा असम्भव है।" क्या मैं यह चाहता हूँ कि ईसाई लोग हिन्दू हो जाँय? कभी नहीं! ईश्वर ऐसा न करे। क्या मेरी यह इच्छा है कि हिन्दू अथवा बौद्ध लोग ईसाई हो जाँय? ईश्वर इस इच्छा से बचावे। बीज को भूमि में बो दिया गया तथा उसके चारों ओर मिट्टी, वायु और जल रख दिए गए; तो क्या वह बीज मिट्टी हो जाता है अथवा वायु या जल बन जाता है? नहीं, वह तो वृक्ष ही होता है, वह अपने नियम से ही बढ़ता है—वायु, जल तथा मिट्टी को अपने में पचाकर, उनसे अपने अंग-प्रत्यंग की पुष्टि करता हुआ वह एक बड़ा वृक्ष हो जाता है।

धर्म के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है। ईसाई को हिन्दू अथवा बौद्ध नहीं हो जाना चाहिए और न हिन्दू अथवा बौद्ध को ईसाई ही होना चाहिए। परन्तु हाँ, प्रत्येक को यह चाहिए कि वह दूसरों के सारभाग को आत्मसात् करके पुष्टिलाभ करे तथा अपनी विशेषता की रक्षा करता हुआ अपनी निजी प्रकृति के अनुसार वृद्धि को प्राप्त हो।

इस सर्वधर्म परिषद् ने संसार के समक्ष यदि कुछ प्रदर्शित किया है, तो वह यह है—उसने यह सिद्ध कर दिखाया है कि शुद्धता, पवित्रता तथा दयालुता किसी भी सम्प्रदाय विशेष

की सम्पत्ति नहीं हैं, प्रत्येक धर्म ने श्रेष्ठ तथा अत्यन्त उन्नत चरित्र नर-नारियों को जन्म दिया है।

अब इन प्रत्यक्ष प्रमाणों के रहते हुए भी यदि कोई ऐसा स्वप्न देखे कि अन्यान्य सभी धर्म नष्ट हो जाएँगे तथा केवल उसका धर्म ही अपनी सर्वश्रेष्ठता के कारण जीवित रहेगा, तो मैं उस पर अपने हृदय के अन्तस्तल से दया करता हूँ तथा उसे स्पष्ट बताए देता हूँ कि वह दिन दूर नहीं है, जब उस जैसे लोगों के अड़ंगों के रहते हुए भी प्रत्येक धर्म की पताका पर स्वर्णाक्षरों में यह लिखा रहेगा 'सहयोग, न कि विरोध', 'पर-भाव ग्रहण, न कि पर-भाव-विनाश', 'समन्वय तथा शान्ति, न कि मतभेद एवं कलह।'

———

आत्मानुभूति की सीढ़ियाँ



मनुष्य को ज्ञानयोग का अधिकारी बनने के लिए पहले 'शम' तथा 'दम' में अपनी गति कर लेनी चाहिए। दोनों में एकसाथ गति की जा सकती है। इन्द्रियों को उनके केन्द्र में स्थित करना तथा उन्हें बहिर्मुख न होने देने का नाम ही शम और दम है। अब मैं तुम्हें 'इन्द्रिय' शब्द का अर्थ समझाता हूँ। देखो, ये तुम्हारी आँखें हैं, परन्तु ये दर्शनेन्द्रिय नहीं हैं। ये तो केवल देखने का साधन मात्र हैं। जिसे दर्शनेन्द्रिय कहते हैं, वह यदि मुझ में न हो, तो बाहरी आँखें रहने पर भी मुझे कुछ दिखाई नहीं देता। मानलो देखने का साधन ये बाहरी आँखें मुझमें हैं तथा दर्शन्द्रिय भी है, लेकिन मेरा मन उनमें नहीं लगा है, तो ऐसी दशा में मुझे कुछ भी नहीं दीखेगा। अतः यह स्पष्ट है कि किसी भी वस्तु के ज्ञान के हेतु तीन बातें आवश्यक होती हैं। (१) साधनभूत बहिरिन्द्रिय—जैसे आंख, कान, नाक आदि, (२) दर्शनक्षम अन्तरिन्द्रिय तथा (३) अन्त में मन। इन तीनों

में से यदि एक भी विद्यमान न हो, तो वस्तु का ज्ञान नहीं होगा। इस तरह मन की क्रिया बाह्य एवं आन्तर इन दो साधनाओं द्वारा प्रकट हुआ करती है। जब मैं किसी वस्तु को देखता हूँ, तो मेरा मन बहिर्मुख होकर उस वस्तु की ओर झुक जाता है, परन्तु जब मैं आँखें बन्द कर लेता हूँ और सोचने लगता हूँ, तो मन फिर बाहर नहीं जाता, भीतर-ही-भीतर कार्य करता रहता है, दोनों ही समय इन्द्रियों की क्रिया चालू रहती है। जब मैं तुम्हें देखता हूँ और तुमसे बातें करता हूँ तो मेरी इन्द्रियाँ और उनके बाहरी साधन दोनों ही कार्य करते रहते हैं। जब मैं आँखें बन्द कर लेता हूँ और सोचने लगता हूँ, तो मेरी केवल इन्द्रियाँ ही काम करती हैं, उनके बाहरी साधन नहीं। इन्द्रियों की क्रिया के बिना मनुष्य विचार ही नहीं कर सकेगा। तुम अनुभव करोगे कि बिना किसी अवलम्ब के सहारे विचार ही नहीं कर सकते। अन्धा मनुष्य भी जब विचार करेगा, तो किसी प्रकार की आकृति की सहायता द्वारा करेगा। अधिकतर आँख तथा कान ये दो इन्द्रियाँ बहुत ही कार्यशील होती हैं। यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिए कि 'इन्द्रिय' शब्द से मेरा मतलब है—हमारे मस्तिष्क में रहने वाला ज्ञान का केन्द्र। आँख तथा कान तो देखने और सुनने के साधन मात्र हैं। उनकी इन्द्रियाँ तो भीतर ही रहती हैं। यदि किसी कारण से ये इन्द्रियाँ नष्ट हो जाँय, तो आँख और कान रहने पर भी हमें न तो कुछ दिखाई देगा और न कुछ सुनाई ही पड़ेगा। अतः मन को काबू में करने से पूर्व इन इन्द्रियों को काबू में लाना चाहिए। मन को भीतर-बाहर भटकने से रोकना तथा इन्द्रियों को अपने केन्द्रों में लगाए रखने का नाम 'शम' और 'दम' है। मन को बहिर्मुख होने से रोकना 'शम' कहलाता है तथा इन्द्रियों के बाहरी साधनों के निग्रह का नाम 'दम' है।

दूसरी सीढ़ी है—'तितिक्षा'। तत्वज्ञानी बनना कुछ टेढ़ी-खीर ही है। 'तितिक्षा' सबसे कठिन है। यह कहा जा कहता है कि आदर्श सहनशीलता तथा तितिक्षा एक ही वस्तु है। आदर्श सहनशीलता का अर्थ है—'दुःख आता है तो आने दो।' इसका तात्पर्य कुछ स्पष्ट करने की आवश्यकता है। आए हुए दुःख को हम सहलेंगे, परन्तु हो सकता है कि साथ-ही-साथ हम दुःखी भी हो जाँय। यदि कोई मनुष्य मुझे कड़ी बात सुनादे, तो यह सम्भव है कि मैं ऊपर से उसका तिरस्कार न करूँ, शायद उसे प्रत्युत्तर भी न दूँ, परन्तु मेरे मन में उसके प्रति तिरस्कार अथवा क्रोध विद्यमान रह सकता है। हो सकता है कि मैं उस मनुष्य के सम्बन्ध में मन-ही-मन अत्यन्त बुरा सोचता रहूँ। इसे 'तितिक्षा' नहीं कह सकते। मेरे मन में न तो क्रोध आना चाहिए, और न तिरस्कार ही तथा मुझ में प्रतिकार की भावना भी नहीं होनी चाहिए। मैं इस तरह शान्त रहूँ, जैसे कोई बात न हुई हो। जब मैं ऐसी स्थिति को पहुंच जाऊँगा, तभी समझो कि मैंने तितिक्षा सीखी—इससे पूर्व नहीं, आए हुए दुःखों को सहन करना, उन्हें रोकने अथवा दूर करने का विचार तक न करना, उनके द्वारा उत्पन्न शोक अथवा अनुताप को अपने मन में भी उत्पन्न न होने देना, बस इसी का नाम 'तितिक्षा' है। मानलो, मैंने दुःख का प्रतिकार नहीं किया और फलस्वरूप मुझ पर कोई कठिन आपत्ति आ पड़ी, तो यदि मुझमें तितिक्षा है तो मुझे इस बात का शोक नहीं करना चाहिए कि मैंने उस आते हुए दुःख को रोकने का प्रयत्न क्यों नहीं किया। जब मनुष्य का मन ऐसी अवस्था में पहुंच जाता है, तो समझ लेना चाहिए कि उसे 'तितिक्षा' सिद्ध हो गई। भारतवर्ष के लोग इस 'तितिक्षा' को प्राप्त करने के निमित्त अत्यन्त असाधारण कार्य करते हैं। वे भयानक धूप अथवा शीत को बिना किसी

कष्ट के सहन कर लेते हैं, वे बर्फ गिरने की भी चिन्ता नहीं करते, क्योंकि उन्हें यह विचार तक भी नहीं आता कि उनका शरीर भी है; शरीर, शरीर के ही भरोसे छोड़ दिया जाता है, मानो वह इनकी कोई वस्तु ही न हो।

इसके पश्चात् आती है—'उपरति'। भोग्य-विषयों का चिन्तन न करने का नाम 'उपरति' है हमने क्या देखा अथवा क्या सुना, हम क्या देखने वाले हैं अथवा क्या सुनने वाले हैं, हमने कौनसी वस्तु खाई, खा रहे हैं अथवा खाएँगे, हम कहाँ रहें आदि-आदि विषयों के चिन्तन में ही हमारा बहुत-सा समय नष्ट हो जाता है। हम जो कुछ देखते-सुनते हैं, उसी के सोचने में तथा उससे सम्बन्धित बातें करने में ही हमारे समय का अधिकांश भाग व्यय हो जाता है। यदि तुम वेदान्ती बनना चाहते हो तो तुम्हें इस स्वभाव को त्याग देना होगा।

चौथा आवश्यक गुण है—'श्रद्धा।' मनुष्य में धर्म तथा ईश्वर के प्रति अटूट श्रद्धा होनी चाहिए। जबतक उसमें ऐसी श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती, तबतक वह ज्ञानी होने की ठीक-ठीक आकांक्षा कर ही नहीं सकता। एक महापुरुष ने मुझसे कहा कि दो करोड़ मनुष्यों में एक भी ऐसा मनुष्य इस संसार में नहीं है, जो ईश्वर में ठीक-ठीक विश्वास करे। मैंने पूछा—'यह कैसे ?' वे बोले—"मानलो, इस कमरे में चोर घुस आया और उसे यह पता लग गया कि दूसरे कमरे में सोने की ईंटें रखी हैं और उन दोनों कमरों को अलग करने वाली दीवाल भी बहुत पतली है, तो उस चोर के मन की क्या हालत होगी ?" मैंने उत्तर दिया—"उसे नींद नहीं आएगी। उसका मन उस सोने को पाने के उपाय में ही लगा रहेगा, उसे और कुछ भी नहीं सूझेगा।" यह सुनकर उन्होंने कहा—"तो फिर तुम्हीं बताओ

कि क्या यह सम्भव है कि मनुष्य ईश्वर में विश्वास करे, और उसे पाने के लिए पागल न हो। यदि मनुष्य वास्तव में यह विश्वास करे कि परमेश्वर असीम आनन्द की खान है, और वह उस खान तक पहुंच भी सकता है, तो क्या वह वहाँ पहुंचने के लिए पागल नहीं हो जाएगा ?' ईश्वर में अटूट विश्वास तथा उसके परिणाम स्वरूप उन्हें प्राप्त करने की तीव्र उत्सुकता का नाम ही 'श्रद्धा' है।

इसके पश्चात् आता है—'समाधान' अर्थात् ईश्वर को अपने हृदय में निरन्तर स्थापित करने का अभ्यास। कोई बात एक दिन में ही नहीं बन जाती। धर्म ऐसी वस्तु नहीं है कि औषधि की गोली की भाँति निगल ली जाय। इसके लिए निरन्तर तथा कठिन अभ्यास की आवश्यकता है। धीरे-धीरे तथा निरन्तर अभ्यास से मन को काबू में लाया जा सकता हैं।

छठी बात है—'मुमुक्षुत्व' अर्थात् मुक्त होने की उत्कट अभिलाषा। तुम लोगों में से जिन्होंने 'आरनाल्ड' की 'लाइट आफ एशिया' नामक पुस्तक पढ़ी होगी, उन्हें याद होगा कि भगवान् बुद्ध ने अपना पहला तत्त्व क्या सिखाया है। उनके कहने का तात्पर्य है—

'अपने दुःखों को उत्पन्न करने वाले, तुम स्वयं ही हो—तुम्हें कोई बाध्य नहीं करता। तुमसे यह भी कोई नहीं कहता कि तुम जीवित रहो अथवा मत रहो। तुम अपने आप ही दुःख के चक्र में पड़कर अनेक प्रकार के कष्टों का अनुभव क्यों करते हो ? इसमें तो तुम्हें कैवल अश्रु तथा शून्यता ही प्राप्त होगी।'

हम पर जो दुःख आते हैं, वे हमारे पसन्द किए हुए होते हैं। वे हमारे ही कर्मों के फल हैं। यह हमारा स्वभाव ही है। साठ वर्ष तक जेल में रहने के पश्चात् जब एक चीनी को

नए बादशाह के राज्याभिषेक की खुशी में जेल से छोड़ दिया गया तो वह चिल्ला उठा "अब मैं कहाँ जाऊँ ? मैं तो कहीं भी नहीं जा सकता। मुझे उसी भयानक अँधेरी कोठरी में चूहों के समीप जाने दो, मैं इस प्रकाश को सहन नहीं कर सकता।" और उसने प्रार्थना की—"या तो मुझे मार डालो अथवा फिर से जेल में ही भेज दो। उसकी प्रार्थना के अनुसार वह फिर बन्द कर दिया गया। सभी मनुष्यों की हालत ठीक ऐसी ही है। चाहे कोई भी दुःख हो, उसे पकड़ने के लिए हम जी तोड़कर दौड़ लगाते हैं तथा उससे छुटकारा प्राप्त करने के लिए बिलकुल भी तैयार नहीं हैं। हम प्रतिदिन सुखों के पीछे दौड़ते हैं और यही देखते हैं कि वे हमें मिलने से पूर्व ही गायब हो जाते हैं। पानी की भाँति हमारी उँगलियों के बीच में से सुख बह जाता है, परन्तु फिर भी हम पागलों की भाँति उसके पीछे दौड़ते ही जाते हैं, हम अँधे बन कर उसका पीछा किए ही जाते हैं।

भारतवर्ष में कोल्हू में बैल जोते जाते हैं। तेल निकालने के लिए बैल को गोलाकार घुमाया जाता है। बैल की गर्दन पर जुआ होता है। जुए का एक सिरा आगे बढ़ा होता है। उसके एक छोर पर घास बाँध दी जाती है। फिर बैल की आँख को इस तरह ढँक देते हैं कि वह केवल सामने की ओर ही देख सके। बैल अपनी गर्दन को बढ़ाता है और उस घास को खाने की कोशिश करता है। ऐसा करने से लकड़ी आगे धक्का खाती है। बैल दूसरी बार, तीसरी बार फिर कोशिश करता है और इसी प्रकार कोशिश करता जाता है, परन्तु वह घास उसके मुंह में कभी नहीं आती और वह गोल-गोल चक्कर लगाता ही जाता है। इधर कोल्हू में तेल पिरता जाता है। हमारी आदत भी ठीक ऐसी ही है। हम भी रुपया-पैसा, स्त्री-बच्चे तथा अपनी

आदतों के दास हैं। मृगजल की भाँति उस घास को प्राप्त करने के लिए हम सहस्रों जन्म तक चक्कर लगाए जाते हैं, जिसे हम प्राप्त करना चाहते हैं, वह हमें नहीं मिल पाता। प्रेम एक ऐसा ही बड़ा स्वप्न है। हम लोगों को प्यार करते हैं और चाहते हैं कि लोग हमें प्यार करें। हम समझते हैं कि हम सुखी होने वाले हैं तथा हम पर कभी दुःख नहीं आएगा, परन्तु हम सुख की ओर जितना ही जाते हैं, वह हमसे उतना ही अधिक दूर भागता जाता है। इसी प्रकार संसार चल रहा है और इसी प्रकार समाज भी। हम अन्धे-गुलाम की तरह उसके लिए भुगतते हैं तथा यह भी नहीं समझते हैं कि हम भुगत रहे हैं। तुम तनिक अपने जीवन की ओर ही देखो, तो तुम्हें ज्ञात होगा कि इस जिन्दगी में कितना थोड़ा सुख है और मृगजल के पीछे दौड़ने की भाँति इन भोगों का पीछा करते हुए तुम्हारे हाथ में कितना थोड़ा सुख आया है।

क्या तुम्हें 'सोलन' तथा 'क्रोसस' की कहानी याद है? बादशाह ने उस बड़े साधु से कहा—'देखो सोलन! इस एशिया माइनर जैसी सुखदायक जगह अन्य कोई नहीं है।' साधु ने पूछा—'सबसे सुखी मनुष्य कौन है? मैंने तो ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं देखा, जो बिलकुल सुखी हो।' क्रोसस ने कहा—'कैसी अर्थहीन बातें करते हो? मैं ही तो संसार में सबसे सुखी मनुष्य हूँ।' साधु ने उत्तर दिया—'इतनी शीघ्रता मत करो, अपनी जिन्दगी समाप्त होने तक जरा ठहरो।' इतना कहकर वह चला गया। कुछ समय पश्चात् उस राजा को फारस वालों ने जीत लिया और उसे जीवित ही जला देने का आदेश दे दिया गया। जब क्रोसस ने चिता रची हुई देखी, तो वह 'सोलन' 'सोलन' कहकर चिल्ला उठा। जब फारस के बादशाह ने उससे

यह पूछा कि वह किसको पुकारता है तो क्रीसस ने अपनी सम्पूर्ण कहानी कह सुनाई। फारस के बादशाह के दिल में यह बात चुभ गई और उसने क्रीसस को मरने से बचा लिया।

हममें से प्रत्येक के जीवन की यही कहानी है। हमारे ऊपर प्रकृति का ऐसा भीषण प्रभाव है कि हम उसके द्वारा बार-बार ठुकराए जाने पर भी, उन्माद से बेहोश होकर, उसका पीछा किए ही जाते हैं। हम निराशा में भी आशा लगाए बैठे रहते हैं। यह आशा—यह मृगजल हमें पागल बनाए हुए है। हममें सुख पाने की आशा सदैव बनी ही रहती है।

किसी समय भारतवर्ष में एक बड़ा सम्राट् राज्य करता था। एक बार किसी ने उससे चार प्रश्न किए। पहला प्रश्न यह था कि संसार में सबसे आश्चर्य की बात कौनसी है। उत्तर मिला—'आशा'। यह आशा ही संसार में सबसे आश्चर्य की वस्तु है। लोग दिन-रात अपने चारों ओर मनुष्यों को मरते हुए देखते हैं, परन्तु फिर भी यह समझते हैं कि वे स्वयं नहीं मरेंगे। हमें यह कभी भी विचार नहीं आता कि हम भी मरने वाले हैं अथवा हमें भी दुःख उठाना होगा। आशाएँ कितनी ही खोखली क्यों न हों, परिस्थितियाँ कितनी विपरीत क्यों न हों और विचार भी कितने ही युक्ति-विरुद्ध क्यों न हों, परन्तु फिर भी प्रत्येक व्यक्ति यही सोचता रहता है कि उसे तो सफलता प्राप्त हो ही जाएगी। इस इन्द्रिय-ग्राह्य संसार में वास्तव में कभी भी कोई सुखी नहीं हुआ। यदि कोई मनुष्य धनी है और उसके पास खाने-पीने के लिए खूब है, तो उसकी पाचनशक्ति ही खराब है और वह कुछ खा-पी नहीं सकता। औरयदि किसी की पाचनशक्ति अच्छी है तथा उसे वृकोदर जैसी भूख लगती है, तो उसे खाने को ही नहीं मिल पाता। यदि कोई धनी है, तो उसके

सन्तान ही नहीं है और यदि कोई भूखों मर रहा है तो उसके लड़के-लड़कियों की एक फौज-सी है और उसे यह भी नहीं सूझता कि वह क्या करे। ऐसा क्यों है ? केवल इसीलिए कि सुख तथा दुःख एक ही सिक्के के 'चित' और 'पट' हैं। जिसे सुख चाहिए, उसे दुःख भी लेना होगा। हम लोग मूर्खतावश यह सोचते हैं कि बिना किसी दुःख के हमें केवल सुख-ही-सुख मिल जाएगा और यह बात हममें ऐसी बिंध गई है कि हम इन्द्रियों पर अधिकार ही नहीं जमा पाते।

एकबार जब मैं बोस्टन में था, तो एकदिन एक नवयुवक मेरे पास आया और उसने मेरे हाथ पर एक कागज का टुकड़ा रख दिया। उस पर उसने किसी व्यक्ति का नाम तथा पता लिखा था और उसके आगे यह वाक्य था—"संसार की सम्पूर्ण दौलत और सम्पूर्ण सुख तुम्हें प्राप्त हो सकता है, परन्तु तुम्हें केवल उसके पाने का उपाय ज्ञात होना चाहिए। यदि तुम मेरे पास आओ तो मैं तुम्हें उसका उपाय सिखा दूँगा। फीस केवल पाँच डालर।" यह चिट्ठी देकर उसने मुझसे पूछा—"इसके सम्बन्ध में आपकी क्या राय है ?" मैंने उत्तर दिया—"तुम्हारे पास स्वयं तो इसे छपा लेने तक के लिए पैसा नहीं है कम-से-कम इसे छपवाने के लिए तो कुछ पैसा कमा लो, तुमने तो इसे हाथ से लिखा है !"

मेरे कहने के आशय को वह समझ नहीं सका। वह इसी विचार में मस्त था कि बिना कोई कष्ट उठाए ही उसे सम्पूर्ण सुख और पैसा प्राप्त हो जाएगा। हम इस संसार में, मनुष्यों में दो प्रकार की चरम वृत्तियाँ पाते हैं। पहली है—चरम आशा वाली वृत्ति, जिसमें हमें प्रत्येक वस्तु सुन्दर, हरी-भरी तथा अच्छी प्रतीत होती है। और दूसरी है—

निराशावादी वृत्ति, जिसमें ऐसा प्रतीत होता है कि सभी बातें हमारे मन के प्रतिकूल ही हुआ करती हैं। अधिकांश लोग तो ऐसे हैं, जिनके मस्तिष्क अविकसित हैं। दस लाख में एकआध ही ऐसा कोई निकलता है, जिसकी बुद्धि का अच्छा विकास हुआ हो, शेष लोग या तो अधकचरे होते हैं, या सिड़ी अर्थात् उनका सिर ही घूमा हुआ होता है।

अतः कोई आश्चर्य की बात नहीं कि हम किसी-न-किसी चरमवृत्ति का आश्रय लेते हैं। जब हम युवा तथा शक्तिशाली होते हैं, तो हमें ऐसा प्रतीत होता है कि संसार की समस्त भोग्य-वस्तुओं को प्राप्त करने वाले हम ही हैं, और वे सब हमारे लिए ही उत्पन्न की गई हैं। परन्तु बाद में जब लोग हमें गेंद की भाँति ठोकरों से उड़ाते हैं और हम वृद्ध हो जाते हैं, उस समय खाँसते-खाँसते एक कौने में जा बैठते हैं तथा फिर दूसरों के उत्साह पर भी ठंडा पानी डालने लगती हैं। बहुत थोड़े मनुष्यों को इस बात का ज्ञान है कि दुःख के साथ सुख और सुख के साथ दुःख लगा हुआ है। और सुख भी उतना ही घृणित है, जितना कि दुःख। क्योंकि सुख तथा दुःख दोनों यमज-बन्धु हैं। जिस प्रकार दुःख के पीछे दौड़ना हमारे मनुष्यत्व की बिडम्बना है, उसी प्रकार सुख के पीछे दौड़ना भी। जिसकी बुद्धि समतोल है, उसे दोनों का ही त्याग करना चाहिए। प्रकृति के हाथ का खिलौना न बनने की चेष्टा हम क्यों न करें? अभी हम पर कोड़े बरस रहे हैं, और जब हम रोने लगते हैं तो प्रकृति हमारे हाथ पर रुपया रख देती है। फिर कोड़े बरसते हैं और हम फिर रोने लगते हैं। अब की बार प्रकृति रोटी का टुकड़ा दे देती है और हम फिर हँसने लगते हैं।

ज्ञानी पुरुष चाहता है—स्वाधीनता। वह जानता है कि विषय भोग-निस्सार है और सुख-दुःख का कोई अन्त नहीं है। संसार के कितने ही धनवान नए-नए सुखों को ढूँढ़ने में लगे हुए हैं। परन्तु उन्हें जो सुख मिलता है, वह पुराना ही होता है। कभी कोई नया सुख हाथ नहीं लगता। क्या तुम नहीं देख रहे हो कि इन्द्रियों को कुछ क्षण तक उद्दीप्त करने के लिए प्रतिदिन कैसे-कैसे मूर्खतापूर्ण नए-नए आविष्कार किए जा रहे हैं? फिर होती है—प्रतिक्रिया। अधिकांश लोग तो भेड़ के झुंड की भाँति हैं। यदि आगे की एक भेड़ गड्ढे में गिरती है, तो पीछे की अन्य सब भेड़ें भी गिरकर अपनी गर्दन तोड़ लेती हैं। इसी प्रकार समाज का मुखिया जब कोई बात कर बैठता है, तो अन्य लोग भी उसका अनुकरण करने लगते हैं और यह नहीं सोचते कि वे क्या कर रहे हैं। जब मनुष्य को ये संसारी बातें निस्सार प्रतीत होने लगती हैं, तब वह सोचता है कि वह प्रकृति के हाथों का इस तरह खिलौना न बने अथवा उसके बहकावे में न आवे। यह तो गुलामी है। यदि कोई दो-चार मीठी बातें सुनादे तो मनुष्य मुस्कुराने लगता है और जब कोई कड़ी बात सुना देता है, तो उसकी आँखों से आँसू निकल आते हैं। वह तो रोटी के टुकड़े का, एक साँस भर हवा का दास है। वह तो कपड़े लत्ते का, स्वदेश प्रेमी कहलाने का, अपने देश तथा अपने नाम-यश का गुलाम है। इस प्रकार वह चारों ओर से गुलामी के बन्धन में फँसा हुआ है, और उसका यथार्थ व्यक्तित्व, उसका सच्चा मनुष्यत्व इन सब बन्धनों के कारण उसके अन्दर गड़ा हुआ है। तुम जिसे 'मनुष्य' कहते हो, वह तो गुलाम है। जब मनुष्य को अपनी सम्पूर्ण गुलामी का अनुभव होता है, तब उसके मन में स्वतंत्र होने की इच्छा—अदम्य इच्छा उत्पन्न होती है। यदि किसी मनुष्य के मस्तक पर दहकता हुआ अंगार रख

दिया जाय, तो वह उसे दूर फेंकने के लिए कैसा छटपटाएगा ! ठीक इसी प्रकार वह मनुष्य, जिसने वास्तव में यह समझ लिया है कि वह प्रकृति का दास है, स्वतंत्रता पाने के हेतु छटपटाता रहता है।

'मुमुक्षुत्व' अर्थात् स्वतंत्रता पाने की इच्छा क्या है, इसे हमने देख लिया। इसके पश्चात् आता है 'नित्यानित्यविवेक।' यह भी अत्यन्त कठिन है। सत्य क्या है और मिथ्या क्या है, चिरन्तन क्या है और नश्वर क्या है, इस भेद को जानना ही 'नित्यानित्यविवेक' कहलाता है। केवल परमेश्वर ही शाश्वत है, शेष सबकुछ नश्वर है। देवदूत. मनुष्य. पशु, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, तारे सभी नष्ट होने वाले हैं, सभी का नाश निश्चित है, प्रत्येक वस्तु की स्थिति में निरन्तर अन्तर होता रहता है। जहाँ आज पर्वत है, वहाँ कल समुद्र था और सम्भवतः कल फिर वहाँ समुद्र दिखाई देगा। प्रत्येक वस्तु अस्थिर है, यह सम्पूर्ण विश्व ही एक परिवर्तनशील पिण्ड है। एकमात्र परमात्मा ही ऐसे हैं, जिनमें कभी परिवर्तन नहीं होता; और हम उनके जितने ही अधिक समीप जाएँगे, हममें उतना ही कम परिवर्तन अथवा विकार होगा, प्रकृति का हम पर उतना ही कम अधिकार चलेगा, तथा जब हम उन तक पहुंच जाएँगे, उनके समक्ष जाकर खड़े होंगे, तो हम प्रकृति पर विजय प्राप्त कर लेंगे उस समय प्रकृति के ये सभी व्यापार हमारे अधीन हो जाएँगे तथा हम पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ सकेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यदि हमने ऊपर बताई हुई साधना को वास्तव में किया है तो सचमुच ही हमें इस संसार में अन्य किसी बात की आवश्यकता नहीं रहेगी। सम्पूर्ण ज्ञान हममें ही निहित है। आत्मा स्वभावतः पूर्ण है,परन्तु यह पूर्णत्व

माया से ढका हुआ है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप पर प्रकृति के आवरण-पर-आवरण चढ़े हुए हैं। तब ऐसी अवस्था में हमें क्या करना पड़ता है? वास्तव में हम अपनी आत्मा की बिलकुल उन्नति नहीं कर सकते। जो पूर्ण है, उसका विकास कौन कर सकता है? हम केवल परदे को दूर हटा देते हैं, और आत्मा अपने नित्य शुद्ध, नित्य मुक्त रूप में प्रकट हो जाती है।

अब प्रश्न यह आता है कि इस प्रकार की साधना की आवश्यकता क्यों कर है। इसका कारण यह है कि धर्म-साधन न तो आँख से होता है, न कान से और न मस्तिष्क से ही। कोई भी धर्मग्रन्थ हमें धार्मिक नहीं बना सकता। चाहे हम संसार के समस्त धर्मग्रन्थों को पढ़ डालें, परन्तु फिर भी ईश्वर अथवा धर्म का हमें तनिक भी ज्ञान न होगा। चाहे हम सारी आयु धर्म अथवा ईश्वर सम्बन्धी बातें करने में बिता दें, फिर भी कोई आध्यात्मिक उन्नति नहीं होगी। संसार में उत्पन्न हुए विद्वानों में से चाहे हमारी आयु सबसे अधिक प्रखर क्यों न हो, परन्तु फिर भी हम ईश्वर तक नहीं पहुंच सकेंगे। क्या तुमने यह नहीं देखा है कि उच्चतम बौद्धिक शिक्षा पाने वाले लोगों में भी कितने ही घोर अधार्मिक व्यक्ति हुए हैं? तुम पाश्चात्यों की संस्कृति का एक बड़ा दोष यह है कि तुम लोग बुद्धि का संस्कार करते समय हृदय के संस्कार पर ध्यान नहीं देते। इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य दस गुना अधिक स्वार्थी बन जाता है। यही तुम्हारे नाश का कारण होगा। यदि हृदय तथा बुद्धि में विरोध उत्पन्न हो, तो तुम हृदय का अनुसरण करो, क्योंकि बुद्धि केवल एक तर्क के क्षेत्र में ही कार्य कर सकती है, वह उसके परे जा ही नहीं सकती। परन्तु वह केवल हृदय ही है, जो हमें उच्चतम भूमिका पर आरूढ़ करता है।

वहाँ तक बुद्धि कभी नहीं पहुंच सकती । हृदय बुद्धि का अतिक्रमण करके, हम जिसे 'अन्तः स्फूर्ति' कहते हैं उसे प्राप्त कर लेता है। बुद्धि द्वारा अन्तःस्फूर्ति कभी भी प्राप्त नहीं हो सकती। अन्तःस्फूर्ति का कारण केवल ज्ञानोद्‌भासित हृदय ही है। केवल बुद्धि प्रधान, परन्तु हृदयशून्य मनुष्य कभी स्फूर्तिमान नहीं बन सकता। प्रेममय मनुष्य की सभी क्रियाएँ उसके हृदय से ही अनुप्राणित होती हैं । एक ऐसा उच्चतर साधन, जिसे बुद्धि कभी नहीं दे सकती, यदि किसी ने पाया है तो केवल हृदय ने ही, और वह साधन है—अन्तःस्फूर्ति। जिस प्रकार बुद्धि ज्ञान का साधन है, उसी प्रकार हृदय अन्तःस्फूर्ति का है। निम्नावस्था में हृदय इतना शक्तिशाली नहीं होता, जितनी कि बुद्धि होती है । एक अपढ़ मनुष्य को कोई ज्ञान नहीं होता, परन्तु वह थोड़ा-बहुत भावनाप्रधान होता है। अब उसकी तुलना एक प्राध्यापक से करो। ओह ! उस प्राध्यापक में कितनी अद्‌भुत् शक्ति होती है ! परन्तु प्राध्यापक अपनी बुद्धि से मर्यादित है। वह एक साथ ही बुद्धिमान तथा शैतान हो सकता है । परन्तु जिस मनुष्य के हृदय है, वह शैतान कभी नहीं हो सकता। यदि योग्य संस्कार किया जाय तो हृदय में परिवर्तन हो सकता है और वह बुद्धि का भी अतिक्रमण करके स्फूर्तिमय बन जाता है । अन्त में, मनुष्य को बुद्धि के परे जाना ही होगा। मनुष्य की प्रज्ञा, उसकी ज्ञानशक्ति, उसका विवेक, उसकी बुद्धि, उसका हृदय, ये सब इस संसार रूपी क्षीरसमुद्र के मन्थन में लगे हुए हैं। दीर्घकाल तक मंथने के पश्चात् उसमें से मक्खन निकलता है और यह मक्खन है—भगवान् ! सहृदय विभूतियाँ 'मक्खन' को पा लेती हैं और थोड़े बुद्धिमानों के लिए केवल 'छाछ' बच जाती है।

हृदय की शुद्धता के लिए, उस प्रेम के लिए, हृदय की उस अपार सहानुभूति के लिए ये सब पूर्व तैयारियाँ हैं। ईश्वर को पाने के लिए विद्वान अथवा पढ़े-लिखे होने की तनिक भी आवश्यकता नहीं है। एकबार एक साधु ने मुझसे कहा था—"यदि तुम किसी के प्राण लेना चाहो, तो तुम्हें ढाल-तलवार से सुसज्जित होना पड़ेगा, परन्तु यदि तुम्हें आत्महत्या करनी है, तो केवल एक सुई ही पर्याप्त होगी। इसी प्रकार यदि दूसरों को सिखाना हो तो बहुत विद्वत्ता एवं बुद्धि की आवश्यकता होगी, परन्तु आत्मानुभूति के लिए यह आवश्यक नहीं है।" क्या तुम शुद्ध हो? क्या तुम पवित्र हो? यदि तुम शुद्ध हो तो परमेश्वर को प्राप्त कर लोगे। जिनका हृदय शुद्ध है, वे धन्य हैं, क्योंकि उन्हें परमेश्वर की प्राप्ति अवश्य ही होगी। परन्तु यदि तुम शुद्ध नहीं हो, तो फिर चाहे तुम्हें संसार का समस्त विज्ञान ही क्यों न ज्ञात हो, उसका कुछ भी उपयोग नहीं होगा। तुम चाहे सब पुस्तकों को कण्ठस्थ कर डालो, परन्तु फिर भी विशेष लाभ नहीं होगा। वह हृदय ही है, जो अन्तिम ध्येय तक पहुँच सकता है। अतः हृदय की ही उपासना करो। बुद्धि द्वारा अगम्य विषय शुद्ध हृदय ही देख सकता है, वह स्फूर्तिमय हो जाता है। हृदय उन बातों को जान लेता है, जिन्हें तर्क द्वारा कभी भी नहीं जाना जा सकता। और यदि बुद्धि तथा शुद्ध हृदय में विरोध हो, तो तुम अपने शुद्ध हृदय का ही अनुसरण करो, भले ही तुम्हें हृदय का कथन तर्क-विरुद्ध ही क्यों न प्रतीत हो। जब हृदय परोपकार करने की इच्छा करे तो यह सम्भव है कि बुद्धि तुम्हें बता सकती है कि ऐसा करना अच्छा नहीं है, परन्तु तुम हृदय की सुनो और इससे तुम यह देखोगे कि बुद्धि की बात मानकर तुम जितनी गलतियाँ करते थे, उससे कम

गलतियाँ करोगे। शुद्ध हृदय ही सत्य के प्रतिविम्ब के लिए सर्वोत्तम दर्पण है। अतः यह सम्पूर्ण साधना हृदय के शुद्धीकरण के लिए ही है और जैसे ही वह शुद्ध हो जाता है, वैसे ही सम्पूर्ण सत्य उसी क्षण उस पर प्रतिविम्बत हो जाता है। यदि तुम्हारा हृदय काफी शुद्ध होगा तो संसार के सभी सत्य उसमें प्रकट हो जाएँगे।

जिन मनुष्यों ने दूरबीन, सूक्ष्मवस्तु-दर्शक-यंत्र अथवा प्रयोगशाला तक कभी नहीं देखी, उन लोगों ने कई युगों पहले सूक्ष्म-भूतों, मनुष्य की सूक्ष्म-ग्राहक शक्तियों तथा परमाणु विषयक महान् सत्यों का आबिष्कार किया था। यह किस तरह हुआ था? वे इन बातों को किस प्रकार जान सके थे? यह ज्ञान उन्हें हृदय के बल पर ही प्राप्त हुआ था। उन्होंने अपने हृदय को शुद्ध बनाया था। यदि हम चाहें तो आज भी वही कर सकते हैं। वास्तव में हृदय का संस्कार ही इस संसार के दु:खों को कम करेगा, न कि बुद्धि का।

बुद्धि सुसंस्कृत की गई। फलतः मनुष्य ने सैकड़ों विद्याओं का आविष्कार किया तथा उसका परिणाम यह हुआ कि कुछ थोड़े से मनुष्यों को अपना गुलाम बना डाला है--बस, इससे यहीं तक लाभ हुआ है। अनैसर्गिक आवश्यकताएँ उत्पन्न करदी गईं। प्रत्येक दरिद्र मनुष्य, फिर चाहे उसके पास पैसा हो अथवा न हो, इन आवश्यकताओं को तृप्त करना चाहता है और जब वह उन्हें तृप्त नहीं कर पाता है तो छटपटाता है और छटपट करते-करते ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। बुद्धि की अन्तिम गति यही है। दु:ख दूर करने की समस्या बुद्धि से हल नहीं हो सकती। यह केवल हृदय से ही होगी। यदि यह प्रचंड प्रयत्न मनुष्यों को अधिक शुद्ध, सभ्य तथा सहनशील बनाने की

ओर किया जाता, तो यह संसार आज सहस्रगुना अधिक सुखी हो जाता, अतः सदैव हृदय का ही संस्कार करो, उसे अधिकाधिक पवित्र बनाओ, क्योंकि वह हृदय ही है, जिसके द्वारा भगवान स्वयं कार्य करते हैं, तथा तुम बुद्धि के द्वारा करते हो।

तुम्हें स्मरण होगा कि 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' में 'मोज़ेस' को कहा गया था—"तुम अपने जूते उतार दो, क्योंकि तुम जहाँ खड़े हो, वह पवित्र भूमि है।" धर्म का अभ्यास करते समय हमें ऐसी ही आदरयुक्त भावना रखकर उसकी ओर बढ़ना चाहिए। जो कोई शुद्ध अन्तःकरण तथा आदरयुक्त भावना से आएगा, उसके हृदय का द्वार खुल जाएगा तथा उसे सत्य के दर्शन होंगे, परन्तु यदि तुम केवल बुद्धि को साथ लेकर आओगे, तो तुम्हारा कुछ बौद्धिक व्यायाम हो जाएगा, तुम्हें कुछ तार्किक सिद्धान्तों की प्राप्ति हो जाएगी, परन्तु सत्य का दर्शन नहीं होगा। सत्य का स्वरूप ही ऐसा है, कि उसे जो कोई देख लेता है, उसे एक दम पूरा विश्वास हो जाता है। सूर्य का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए मशाल की आवश्यकता नहीं होती। वह तो स्वयं ही प्रकाशमान है। यदि सत्य को भी प्रमाण की आवश्यकता हो, तो उस प्रमाण को फिर कौन सिद्ध करेगा? अतः हमें धर्म की ओर प्रेम तथा आदरयुक्त भावना से झुकना चाहिए। उस समय हमारा हृदय जाग्रत हो उठेगा तथा कहेगा—"यह सत्य है और, यह सत्य नहीं है।"

धर्म का क्षेत्र हमारी इन्द्रियों के अतीत है, हमारे द्वैतात्मक बोध से भी परे है। परमेश्वर को कभी इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। अभी तक किसी ने भी परमेश्वर को इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना है और न द्वैतबोध रहने तक उसे कोई जान ही सकेगा। द्वैतबोध रहते हुए किसी को परमेश्वर

की प्रतीति तक नहीं हो सकती। परमेश्वर कहाँ है? धर्म का क्षेत्र कहाँ है? वह इन्द्रियों के अतीत, द्वैतबोध के अतीत है। हमें इन इन्द्रियों से परे, इस द्वैतबोध से परे जाना होगा, हमें अपनी अन्तस्थ आत्मा के अधिकाधिक समीप जाना होगा और जितना ही हम आगे बढ़ेंगे, उतना ही परमेश्वर के अधिकाधिक समीप पहुंचेंगे। परमेश्वर के अस्तित्व का प्रमाण क्या है?— साक्षात्कार अर्थात् प्रत्यक्ष अनुभूति। इस दीवाल के अस्तित्व का प्रमाण यह है कि मैं इसे देखता हूँ। आज से पूर्व सहस्रों ने परमेश्वर को इस प्रकार देखा है और आगे भी जब चाहेंगे, उसे देख सकेंगे; परन्तु प्रत्यक्षानुभूति इन्द्रियों द्वारा होने वाले अनुभव के समान बिलकुल नहीं है। वह इन्द्रियातीत है, वह द्वैतबोधातीत है और ये सभी साधनाएँ हमें इन्द्रियों से परे ले जाने के लिए आवश्यक हैं। अनेक प्रकार के कृत-कर्मों तथा बन्धनों से हम अधोगामी हो रहे हैं। इन साधनाओं द्वारा हम शुद्ध तथा सत्यनिष्ठ बनेंगे। उस समय हमारे बन्धन स्वयं ही टूट जाएँगे तथा हम इस इन्द्रियगम्य जगत् से, जहाँ कि हम फँसे पड़े हैं, ऊँचे उठ जाएँगे और फिर हम उसे देखेंगे, सुनेंगे तथा अनुभव करेंगे; जिसे मनुष्य ने तीनों अवस्थाओं में—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति में न कभी देखा है, न सुना है और न कभी अनुभव किया है। उस समय हम जैसे कोई नई भाषा ही बोलने लगेंगे और संसार हमें समझ नहीं सकेगा; क्योंकि इन्द्रिय-ज्ञान के अतिरिक्त उसे अन्य कोई ज्ञान ही नहीं है। सच्चा धर्म पूर्णरूप से द्वैतातीत है। विश्व में रहने वाले प्रत्येक जीव में इन्द्रियातीत होने की शक्ति सुप्त भाव में विद्यमान है। एक दिन छोटे से छोटा कीड़ा भी इन्द्रियातीत हो जाएगा तथा परमेश्वर तक पहुंच जाएगा। कोई भी जीवन व्यर्थ नहीं होगा। इस संसार में 'व्यर्थ' नामक कोई वस्तु है ही नहीं। मनुष्य सौ बार अपना

पतन करले, सहस्र बार फिसल जाय, परन्तु अन्त में वह यह जान ही लेगा कि वह आत्मा है। हम जानते हैं कि उन्नति कभी सरलरेखा में नहीं होती। प्रत्येक जीव की गति वर्तुलाकार है और उसे अपना वृत्त पूरा करना ही होगा। कोई भी जीव कभी भी इतना नीचे नहीं जा सकता कि फिर उसका उत्थान ही न हो। प्रत्येक जीव को ऊँचा उठना ही होगा। ऐसा कोई भी नहीं हैं, जिसका पूर्णरूप से नाश हो जाए। हम सब एक ही केन्द्र अर्थात् उस परमात्मा से आए हैं। ईश्वर से उत्पन्न ऊँचे-से ऊँचे तथा नीचे-से-नीचे सभी प्राणी अन्त में उस परमपिता के समीप ही लौट आएँगे। "जहाँ से सब प्रकट हुए हैं, जो सबका अधिष्ठान है तथा जिसमें सब विलीन होंगे, वही परमेश्वर है!"

मन की शक्तियाँ



समस्त युगों से, संसार के सब लोगों का अलौकिक घटनाओं में विश्वास चला आ रहा है। हम सभी ने अनेक अद्भुत चमत्कारों के सम्बन्ध में सुना है तथा हममें से कुछ ने उनका स्वयं अनुभव भी किया है। इस विषय का प्रारम्भ आज मैं स्वयं देखे हुए चमत्कारों को बता कर करूँगा। एक बार मैंने एक ऐसे मनुष्य के सम्बन्ध में सुना, जो किसी के भी मन के प्रश्न का उत्तर प्रश्न सुनने से पहले ही बता देता था और मुझे यह भी बताया गया कि वह भविष्य की बातें भी बताता है। मुझे उत्सुकता हुई तथा मैं अपने कुछ मित्रों के साथ वहाँ पहुंचा। हममें से प्रत्येक ने पूछने का प्रश्न अपने मन में सोच रक्खा था। कहीं गलती न हो, इसलिए हमने वे प्रश्न कागज पर लिखकर जेब में रख लिए थे। जैसे ही हममें से एक वहाँ पहुंचा, वैसे ही उसने हमारे प्रश्न तथा उनका उत्तर बताना आरम्भ कर दिया। फिर उस मनुष्य ने कागज पर कुछ लिखा, उसे मोड़ा तथा

उसके पीछे मुझसे हस्ताक्षर करने के लिए कहा और बोला—"इसे पढ़ो मत, जेब में रख लो, जबतक कि मैं इसे फिर न माँगू ।" इस प्रकार उसने प्रत्येक से कहा । फिर उसने हम लोगों को हमारे भविष्य की कुछ बातें बताईं, फिर उसने कहा—"अब किसी भी भाषा का कोई भी शब्द अथवा वाक्य तुम लोग अपने मन में सोच लो । मैंने संस्कृत का एक लम्बा वाक्य सोच लिया। वह मनुष्य संस्कृत बिलकुल नहीं जानता था, उसने कहा—'अपनी जेब का कागज निकालो ।" अरे ! कैसा आश्चर्य, वही संस्कृत का वाक्य उस कागज पर लिखा हुआ था और नीचे यह भी लिखा था कि मैंने इस कागज पर जो कुछ लिखा है, वह मनुष्य उसी को सोचेगा। और यह बात उसने एक घंटे पहले ही लिखकर रख दी थी। फिर हम में से दूसरे को, जिसके पास भी उसी प्रकार का एक दूसरा कागज था, कोई एक वाक्य सोचने के लिए कहा गया। उसने अरबी भाषा का एक फिकरा सोचा। अरबी भाषा का जानना तो उसके लिए और भी असम्भव था। वह फिकरा था कुरान शरीफ का। परन्तु मेरा मित्र क्या देखता है कि वह भी कागज पर लिखा हुआ है। हममें से तीसरा व्यक्ति वैद्य था। उसने किसी जर्मन भाषा की वैद्यक पुस्तक का वाक्य अपने मन में सोचा, परन्तु उसके कागज पर भी वह वाक्य लिखा हुआ था।

यह सोच कर कि पहले मैंने कहीं धोखा न खाया हो, कुछ दिनों बाद मैं कुछ दूसरे मित्रों को साथ लेकर वहाँ गया, परन्तु इस बार भी उसने वैसी ही आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की।

एफ वार जब मैं हैदराबाद में था, तब मैंने एक ब्राह्मण के सम्बन्ध में सुना। यह मनुष्य न जाने कहाँ से कई वस्तुएँ उत्पन्न कर देता था। वह उस नगर का व्यापारी तथा ऊँचे खानदान का था। मैंने उससे अपने चमत्कार दिखाने के लिए कहा। उस समय ऐसा हुआ कि वह मनुष्य बीमार था। भारत-वासियों में यह विश्वास है कि यदि कोई पवित्र मनुष्य किसी के मस्तक पर हाथ रख दे, तो उसका बुखार उतर जाता है। वह ब्राह्मण मेरे पास आकर बोला—"महाराज, आप अपना हाथ मेरे मस्तक पर रख दें, ताकि मेरा बुखार भाग जाय।" मैंने कहा—"ठीक है, परन्तु तुम हमें अपनी करामात दिखाओ।" वह तैयार हो गया। उसकी इच्छानुसार मैंने अपथा हाथ उसके मस्तक पर रक्खा और बाद में वह अपना वचन पूरा करने के लिए आगे बढ़ा। वह केवल एक दुपट्टा पहने हुए था! उसके अन्य सभी कपड़े हमने अपने पास ले लिए थे! अब मैंने उसे ओढ़ने के लिए केवल एक कम्बल दिया, क्योंकि ठंड के दिन थे तथा उसे एक कौने में बैठा दिया। पचास आँखें उसकी ओर ताक रहीं थीं। उसने कहा—"अब आप लोगों को जो कुछ चाहिए, वह कागज पर लिखिए।" हम सब लोगों ने फलों के नाम लिखे, जो उस प्रान्त में उत्पन्न तक नहीं होते थे—अगूर के गुच्छे सन्तरे आदि। और हमने वे कागज उसके हाथ में दे दिए। कैसा आश्चर्य, उसके कम्बल में से अंगूर के गुच्छे एवं संतरे आदि इतनी मात्रा में निकले कि यदि उन्हें तोला जाता तो वे सब उस आदमी के वजन से दुगुने होते। उसने हमसे उन फलों को खाने के लिए कहा। हममें से कुछ लोगों ने यह सोच कर कि सम्भवतः वह जादू-टोना हो, खाने से इन्कार किया। परन्तु जब उस ब्राह्मण ने स्वयं खाना आरम्भ कर दिया, तो हमने भी उन्हें खाया। वे सब फल खाने के योग्य ही थे।

अ:त में उसने गुलाब के ढेर निकाले । प्रत्येक फूल पूरा खिला हुआ था। पंखुड़ियों पर ओसविन्दु थे । कोई भी फूल न तो टूटा और न दबकर खराब ही हुआ था और उसने एक दो नहीं, अपितु ढेर-के-ढेर फूल निकाले । जब मैंने पूछा कि यह किस तरह किया, तो उसने कहा—"यह सब हाथ की सफाई है।"

यह और चाहे जो हो, परन्तु केवल हाथ की सफाई होना तो असम्भव था। इतनी अधिक मात्रा में वह उन वस्तुओं को कहाँ से पा सकता था ?

तो मैंने इसी प्रकार की अनेक बातें देखीं। भारतवर्ष में घूमते समय भिन्न-भिन्न स्थानों पर तुम्हें ऐसी सकड़ों बातें दिखाई देंगी। ये चमत्कार सभी देशों में हुआ करते हैं। इस देश में भी इस प्रकार के आश्चर्यजनक काम दिखाई पड़ेंगे। हाँ ! यह सच है कि इनमें अधिकांश धोखेबाजी ही होती है, परन्तु जहाँ तुम धोखेवाजी देखते हो, वहाँ यह भी मानना पड़ता है कि वह किसी की नकल है । कहीं न-कहीं कोई सत्य तो होना ही चाहिए, जिसकी वह नकल की जा रही है। अविद्यमान वस्तु की नकल कोई नहीं कर सकता। किसी विद्यमान वस्तु की ही नकल की जा सकती है।

प्राचीनकाल में सहस्रों वर्ष पहले ऐसी बातें आज की अपेक्षा और भी बड़े प्रमाण में हुआ करती थीं। मुझे ऐसा लगता है कि जब किसी देश की आबादी घनी होने लगती है, तब मानसिक बल का ह्रास होने लगता है । जो देश विस्तृत है तथा जहाँ लोग विरल बसे हैं, वहाँ सम्भवतः मानसिक बल अधिक होता है । विश्लेषण-प्रिय होने के कारण हिन्दुओं ने इन विषयों के सम्बन्ध में अन्वेषण किया

तथा वे कुछ मौलिक सिद्धान्तों पर जा पहुंचे । अर्थात् उन्होंने इन बातों का एक शास्त्र ही बना डाला है। उन्होंने यह अनुभव किया कि यद्यपि ये बातें असाधारण हैं, फिर भी अनैसर्गिक नहीं हैं। अनैसर्गिक नामक कोई वस्तु है ही नहीं । ये बातें भी ठीक उसी तरह नियमबद्ध हैं, जिस प्रकार भौतिक संसार की अन्यान्य बात । यह कोई निसर्ग की लहर नहीं कि एक मनुष्य इन सामर्थों को साथ लेकर जन्म लेता हो । इन शक्तियों के बारे में नियमित रूप से अध्ययन किया जा सकता है, इनका अभ्यास किया जा सकता है तथा ये शक्तियाँ स्वयं में उत्पन्न की जा सकती हैं। वे लोग इस शास्त्र को राजयोग कहते हैं। भारतवर्ष में ऐसे सहस्रों मनुष्य हैं, जो इस शास्त्र का अध्ययन करते हैं तथा यह सम्पूर्ण राष्ट्र की दैनिक उपासना का अंग बन गया है।

वे लोग जिस सिद्धान्त पर पहुंचे हैं, वह यह है कि यह सब अद्भुत सामर्थ्य मनुष्य के मन में अवस्थित है। मनुष्य का मन समष्टि मन का अंश मात्र है । प्रत्येक मन प्रत्येक दूसरे मन से संलग्न है और प्रत्येक मन, वह चाहे जहाँ रहे, समस्त विश्व के व्यापार में प्रत्येक भाग ले रहा है।

क्या तुम लोगों ने विचार संक्रमण (Thought-transference) का चमत्कार देखा है ? यहाँ एक मनुष्य कुछ विचार करता है और वह विचार अन्यत्र किसी दूसरे मनुष्य में प्रकट हो जाता है। एक मनुष्य अपने विचार दूसरे मनुष्य के पास भेजना चाहता है और उस दूसरे मनुष्य को यह ज्ञात हो जाता है कि इस प्रकार का संदेश उसके पास आ रहा है। वह उस संदेश को ठीक उसी रूप में ग्रहण करता है, जिस रूप में कि वह भेजा गया था । यह बात पूर्व

साधनाओं से सिद्ध होती है। यह केवल आकस्मिक घटना नहीं है। दूरी के कारण कुछ अन्तर नहीं पड़ता। यह संदेश उस दूसरे मनुष्य तक पहुंच जाता है और वह दूसरा मनुष्य उसे समझ लेता है। यदि तुम्हारा मन एक स्वतंत्र वस्तु होता, जो वहाँ विद्यमान है, और मेरा मन एक दूसरी स्वतंत्र वस्तु होता, जो यहाँ विद्यमान है; और इन दोनों मनों में यदि कोई सम्बन्ध नहीं होता तो मेरे विचार तुम्हारे समीप तक कैसे पहुंच पाते? सर्वसाधारण व्यवहार में, मेरा विचार सीधा तुम्हारे समीप नहीं पहुंचता, परन्तु पहले तो मेरे विचार को आकाशतत्त्व के स्पंदन में परिणत होना पड़ता है, फिर ये स्पंदन तुम्हारे मस्तिष्क में पहुंचते हैं। वहाँ इन स्पंदनों का फिर से तुम्हारे अपने विचार में रूपान्तर होता है और इस प्रकार मेरा विचार तुम्हारे समीप पहुंचता है। यहाँ विचार पहले विश्लिष्ट होकर आकाशतत्व में मिल जाता हैं और फिर उसी का वहाँ संश्लेषण हो जाता है—इस प्रकार का चक्राकार कार्यक्रम चलता है, परन्तु विचार संक्रमण में इस प्रकार की कोई चक्राकार क्रिया नहीं होती, इसमें मेरा विचार सीधासादा तुम्हारे पास पहुंच जाता है।

इससे स्पष्ट है कि मन एक अखंड वस्तु है, जैसा कि योगीजन कहते हैं—मन विश्वव्यापी है। तुम्हारा मन, मेरा मन, ये सब विभिन्न मन उस समष्टि मन के अंश मात्र हैं, जैसे समुद्र पर उठने वाली छोटी-छोटी लहरें हैं, और इस अखण्डता के कारण ही, हम अपने विचारों को एकदम सीधे, बिना किसी माध्यम के परस्पर संक्रमित कर सकते हैं।

हमारे आसपास संसार में क्या हो रहा है, यह तो तुम देख ही रहे हो। अपना प्रभाव चलाना, यही दुनियाँ है। हमारी

शक्ति का कुछ अंश तो हमारे शरीर धारण के उपयोग में आता है, तथा शेष प्रत्येक अंश दूसरों पर अपना प्रभाव डालने में रात-दिन व्यय होता रहता है। हमारे शरीर, हमारे गुण, हमारी बुद्धि एवं हमारा आत्मिक बल—ये सब निरन्तर दूसरों पर प्रभाव डालते आरहे हैं। इसी तरह, उलटे रूप में, हमारे ऊपर दूसरों का प्रभाव पड़ता चला आरहा है। हमारे आस-पास यही चल रहा है। एक प्रत्यक्ष उदाहरण लो। एक मनुष्य तुम्हारे समीप आता है, वह खूब पढ़ा-लिखा है, उसकी भाषा भी सुन्दर है और वह तुमसे एक घंटा बात करता है; फिर भी वह अपना प्रभाव नहीं छोड़ जाता है। दूसरा मनुष्य आता है, वह इने-गिने शब्द बोलता है, सम्भवतः वे भी व्याकरण-शुद्ध तथा व्यवस्थित नहीं होते, परन्तु फिर भी वह बहुत प्रभाव डाल जाता है। यह तो तुममें से बहुतों ने अनुभव किया होगा। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य पर जो प्रभाव पड़ता है, वह केवल शब्दों द्वारा ही नहीं होता। शब्द, इतना ही नहीं विचार भी, सम्भवतः प्रभाव का एक तृतीयांश ही उत्पन्न करते होंगे, परन्तु शेष दो तृतीयांश प्रभाव तो उसके व्यक्तित्व का ही होता है, जिसे तुम वैयक्तिक आकर्षण कहते हो, वही प्रकट होकर तुम पर अपना प्रभाव डाल देता है।

प्रत्येक कुटुम्ब में एक मुख्य-संचालक होता है। इनमें से कोई-कोई संचालक घर चलाने में सफल होते हैं, परन्तु कोई नहीं। ऐसा क्यों है? जब हमें असफलता मिलती है, तब हम दूसरों को कोसते हैं। जैसे ही मुझे असफलता मिलती है, वैसे ही मैं कह उठता हूँ कि मेरे अपयश के कारण अमुक-अमुक हैं। अपयश आने पर मनुष्य अपनी दुर्बलता एवं अपने दोष को स्वीकार नहीं करना चाहता। प्रत्येक मनुष्य यह सिखाने का प्रयत्न

करता है कि वह निर्दोष है और सम्पूर्ण दोष वह किसी मनुष्य पर, किसी वस्तु पर तथा अन्ततः दुर्दैव पर मढ़ना चाहता है। जब घर का मुख्य-संचाल सफलता प्राप्त न कर सके, तो उसे स्वयं से यह प्रश्न पूछना चाहिए कि कुछ लोग अपना घर किस तरह अच्छी प्रकार से चला सकते हैं और दूसरे क्यों नहीं! उस समय तुम्हें पता चलेगा कि यह अन्तर उस मनुष्य के ही कारण है—उस मनुष्य के व्यक्तित्व के कारण ही यह अन्तर पड़ता है।

मनुष्य जाति के बड़े-बड़े नेताओं की बात यदि ली जाय, तो हमें सदैव यही दिखाई पड़ेगा कि उनका व्यक्तित्व ही उनके प्रभाव का कारण था। बड़े-बड़े प्राचीन लेखक तथा दार्शनिकों की बात ही लीजिए। सच पूछो तो असल और सच्चे विचार उन्होंने हमारे सामने रक्खे ही कितने हैं? गतकालीन नेताओं ने जो कुछ लिख छोड़ा है, उस पर विचार करो, उनकी लिखी हुई पुस्तकों को देखो तथा प्रत्येक का मूल्य आँको। वास्तविक, नए तथा स्वतंत्र विचार, जो अभी तक इस संसार में सोचे गए हैं, केवल मुट्ठी भर ही हैं और उन लोगों ने हमारे लिए जो विचार छोड़े हैं, उन्हें उन्हीं की पुस्तकों में से पढ़ो, तो वे हमें कोई बहुत बड़े नहीं लगते; परन्तु फिर भी हम यह जानते हैं कि अपने समय में वे बहुत बड़े हो गए हैं। इसका क्या कारण है? वे जो बहुत बड़े प्रतीत होते थे, वह केवल उनके सोचे विचार अथवा उनकी लिखी हुई पुस्तकों के कारण नहीं था और न उनके दिए हुए भाषणों के कारण ही था, अपितु किसी एक दूसरी ही बात के कारण था, जो अब निकल गई है, और वह था उनका व्यक्तित्व। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, व्यक्तित्व दो तिहाई होता है और शेष सब एक तिहाई—मनुष्य की बुद्धि और उसके

कहे हुए शब्द। सच्चा मनुष्यत्व अथवा उसका व्यक्तित्व ही वह वस्तु है, जो हम पर प्रभाव डालती है। हमारे कर्म हमारे व्यक्तित्व की बाह्य अभिव्यक्ति मात्र हैं। प्रभावशाली व्यक्तित्व कर्म के रूप से प्रकट होगा ही—कारण के रहते हुए कार्य का आविर्भाव अवश्यम्भावी है।

सम्पूर्ण शिक्षा तथा सम्पूर्ण अध्ययन का एकमात्र उद्देश्य है—इस व्यक्तित्व का गठन करना। परन्तु हम यह न करके केवल बहिरंग पर ही पानी चढ़ाने का प्रयत्न निरन्तर किया करते हैं। जहाँ व्यक्तित्व का ही अभाव है, वहाँ केवल बहिरंग पर पानी चढ़ाने का प्रयत्न करने से क्या लाभ ? सम्पूर्ण शिक्षा का ध्येय है, मनुष्य का विकास। वह अन्तर्मानव—वह व्यक्तित्व, जो अपना प्रभाव सब पर डालता है, जो अपने साथियों पर जादू-सा कर देता है, शक्ति का एक महान् केन्द्र है। और जब यह शक्तिशाली अन्तर्मानव तैयार हो जाता है, तब वह जो चाहे कर सकता है। यह व्यक्तित्व जिस वस्तु पर अपना प्रभाव डालता है, उसी को कार्यशील बना देता है।

हम देखते हैं कि यद्यपि यह बात सत्य है, फिर भी कोई भी भौतिक सिद्धान्त जो हमें ज्ञात है, इसे नहीं समझ सकता। रासायनिक अथवा पदार्थ वैज्ञानिक ज्ञान इसका विशदीकरण किस तरह कर सकता है। कितनी ओषजन (Ox gn) कितनी उद्जन वायु (H\dr ogen) कितना कोयला (Carbon) अथवा कितने परमाणु उनकी कितनी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ, उनमें विद्यमान कितने कोष (Cells) आदि इस गूढ़ व्यक्तित्व का स्पष्टीकरण कर सकते हैं ? फिर भी हम यह देखते हैं कि यह व्यक्तित्व एक सत्य है, इतना ही नहीं, अपितु यही प्रकृत मानव है। यही मनुष्य की समस्त क्रियाओं को अनु-

प्राणित करता है, सब पर प्रभाव डालता है, संगियों को कार्य में प्रवृत्त करता है और उस व्यक्ति के लय के साथ विलीन हो जाता है। उसकी बुद्धि, उसकी पुस्तक तथा उसके किए हुए कार्य—ये सब तो केवल पीछे रहे हुए कुछ चिन्ह मात्र हैं। इस बात पर विचार करो। महान् धर्माचार्यों की बड़े-बड़े दार्शनिकों के साथ तुलना करो। इन दार्शनिकों ने अत्यन्त आश्चर्यजनक पुस्तकें लिख डाली हैं, परन्तु फिर भी, शायद ही किसी के अन्त-र्मानव को—व्यक्तित्व को उन्होंने प्रभावित किया हो। इसके विपरीत महान् धर्माचार्यों को देखो, उन्होंने अपने समय में सम्पूर्ण देश को हिला दिया था। वह व्यक्तित्व ही था, जिसने यह अन्तर उत्पन्न किया। दार्शनिकों का वह व्यक्तित्व, जो प्रभाव उत्पन्न करता है, अंश मात्र होता है तथा महान् धर्म संस्थापकों का वही व्यक्तित्व प्रचण्ड होता है। दार्शनिकों का व्यक्तित्व बुद्धि पर प्रभाव डालता है तथा धर्म-संस्थापकों का जीवन पर। पहला जैसे केवल एक रासायनिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा कुछ रासायनिक उपादान एकत्र होकर परस्पर धीरे-धीरे संयुक्त हो जाते हैं तथा अनुकूल परिस्थिति हो जाने पर या तो उनमें से प्रकाश की दीप्ति प्रकट होती है अथवा वे असफल ही हो जाते हैं। दूसरा एक जलती हुई मशाल के समान है, जो शीघ्र ही एक के बाद दूसरे को प्रज्ज्वलित करता जाता है।

योगशास्त्र यह दावा करता है कि उसने उन नियमों को ढूँढ़ निकाला है, जिनके द्वारा इस व्यक्तित्व का विकास किया जा सकता है। इन नियमों और उपायों की ओर ठीक-ठीक ध्यान देने से मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है तथा उसे शक्तिशाली बना सकता है। बड़ी-बड़ी

व्यावहारिक बातों में यह एक महत्व की बात है, और सम्पूर्ण शिक्षा का यही रहस्य है। इसकी उपयोगिता सार्वदेशिक है। चाहे वह गृहस्थ हो, चाहे वह दरिद्र, धनी, व्यापारी अथवा धार्मिक—सबके जीवन में व्यक्तित्व को शक्तिशाली बनाना ही एक महत्व की बात है। ऐसे अनेक सूक्ष्म नियम हैं, जो हम जानते हैं, इन भौतिक नियमों से परे हैं। तात्पर्य यह कि भौतिक-जगत्, मानसिक-जगत् अथवा आध्यात्मिक-जगत् इस प्रकार की कोई नितान्त स्वतंत्र सत्ताएँ नहीं हैं। जो कुछ है, सब एकत्व है। अथवा हम यों कहेंगे कि यह सब एक ऐसी वस्तु है, जो यहाँ पर मोटी है तथा जैसे-जैसे ऊँची चढ़ती जाती है, वैसे-वैसे वह सूक्ष्मतर होती जाती है। सूक्ष्मतम को हम आत्मा कहते हैं और स्थूलतम को शरीर तथा जो कुछ छोटे प्रमाण में इस शरीर में है, वहाँ बड़े प्रमाण में विश्व में है। जो पिंड में है, वही ब्रह्मांड में है। यह हमारा संसार ठीक इसी तरह का है। बहिरंग में स्थूल घनत्व है तथा जैसे-जैसे यह ऊँचा चढ़ता है, सूक्ष्मतर होता चला जाता है, और अन्त में परमेश्वर का रूप बन जाता है।

हम यह भी जानते हैं कि सबसे अधिक शक्ति सूक्ष्म में है, स्थूल में नहीं। एक मनुष्य भारी वजन उठाता है, उसके स्नायु फूल उठते हैं तथा सम्पूर्ण शरीर पर परिश्रम के चिह्न दिखाई पड़ने लगते हैं। हम समझते हैं कि स्नायु बहुत शक्तिशाली वस्तु हैं, परन्तु वास्तव में जो स्नायुओं को शक्ति देते हैं, वे तो धागे की भाँति पतले ज्ञानतंतु (nerves) हैं। जिस क्षण इन तन्तुओं में से एक का भी स्नायुओं से सम्बन्ध टूट जाता है, उसी क्षण वे स्नायु बेकार हो जाते हैं। ये छोटे-छोटे ज्ञानतन्तु किसी अन्य सूक्ष्मतर वस्तु से अपनी शक्ति

ग्रहण करते हैं और वह सूक्ष्मतर वस्तु फिर अपने से भी अधिक सूक्ष्म विचारों द्वारा शक्ति ग्रहण करती है। इसी प्रकार यह क्रम चलता रहता है। इसलिए वह सूक्ष्मतत्व ही है, जो शक्ति का अधिष्ठान है। स्थूल में होने वाली हलचल को हम अवश्य देख सकते हैं, परन्तु सूक्ष्म में होने वाली हलचल को हम नहीं देख सकते। जब स्थूल वस्तुएँ हलचल करती हैं तो हमें उसका बोध होता है और इसलिए हम स्वाभाविक ही हलचल का सम्बन्ध स्थूल से जोड़ देते हैं, परन्तु वास्तव में सम्पूर्ण शक्ति सूक्ष्म में ही है। सूक्ष्म में होने वाली हलचल को हम देख नहीं सकते। सम्भवतः इसका कारण यह है कि वह हलचल इतनी तीव्र होती है कि हम उसका अनुभव ही नहीं कर सकते, परन्तु यदि कोई शास्त्र अथवा कोई शोध इन सूक्ष्म शक्तियों के ग्रहण करने में सहायता दे, तो यह व्यक्त विश्व ही, जो शक्तियों का परिणाम है, हमारे अधीन हो जाएगा। पानी का एक बुलबुला झील की तली से निकलता है, वह ऊपर आता है, परन्तु हम उसे देख नहीं सकते, जब तक कि वह सतह पर आकर फूट नहीं जाता। इसी प्रकार विचार अधिक विकसित हो जाने अथवा कार्य में परिणत हो जाने पर ही देखे जा सकते हैं। हम सदैव यही कहा करते हैं कि हमारे कर्मों पर, हमारे विचारों पर हमारा अधिकार नहीं चलता। यह अधिकार हम किस तरह प्राप्त कर सकते हैं? यदि हम विचारों को मूल में ही अधीन कर सकें तो इन सूक्ष्म हलचलों पर हमारा शासन चल सकेगा। विचारों को कार्य में परिणत होने के पूर्व ही जब हम अधीन कर लेंगे, तभी हमारी हुकूमत सब पर चल सकेगी।

अब यदि कोई ऐसा तरीका हो, जिसके द्वारा हम कारण

भावों का अर्थात् इन सूक्ष्म शक्तियों का प्रथक्करण कर सकें, उन्हें समझ सकें तथा अन्त में अपने अधीन ला सकें तो हम स्वयं पर अपना अधिकार चला सकेंगे, और जिस मनुष्य का मन उसके अधीन होगा, वह अवश्य ही दूसरों के मन को भी अपने अधीन कर सकेगा। यही कारण है कि पवित्रता एवं नीतिमत्ता सदैव के लिए धर्म के विषय बने हुए है। पवित्र, सदाचारी मनुष्य स्वयं पर अपना अधिकार चलाता है। हम सबके मन उस एक ही समष्टि मन के अंश मात्र हैं। जिसे एक ढेले का ज्ञान हो गया, उसने संसार की सम्पूर्ण मिट्टी को जान लिया। जो अपने मन को जानता है और उसे अपने अधीन रख सकता है, वह दूसरों के मन का रहस्य पहिचानता है और उन पर अपना शासन चला सकता है।

हम अपने भौतिक दुखों का अधिकांश दूर कर सकते हैं, यदि हम इन सूक्ष्म कारणों पर अपना अधिकार चला सकें। हम अपनी चिन्ताओं को दूर कर सकते हैं, यदि यह सूक्ष्म हलचल हमारे अधीन हो जाय। अनेक अपयश टाले जा सकते हैं, यदि हम इन सूक्ष्म शक्तियों को अपने अधीन करलें। यहाँ तक तो उपयोगिया के सम्बन्ध में हुआ, अब इसके परे और भी कुछ उच्चतर साध्य है।

अब मैं तुम्हें एक विचार-प्रणाली बताता हूँ, उसके सम्बन्ध में मैं अभी विवाद उपस्थित नहीं करूँगा, केवल तुम्हारे सामने सिद्धान्त ही रखूँगा। प्रत्येक मनुष्य अपने बाल्यकाल में ही उन अवस्थाओं को पार कर लेता है, जिनमें से होकर उसका स ा ज जरा है। अन्तर केवल इतना ही है कि समाज को सहस्रों वर्ष लग जाते हैं जब कि बालक कुछ वर्षों में ही उनमें होकर गुजरता है। बालक पहले जंगली मनुष्य की अव-

स्था में होता है—वह तितली को अपने पाँव से कुचल डालता है। प्रारम्भ में बालक अपनी जाति के जंगली पूर्वजों जैसा होता है। वह जैसे-जैसे बढ़ता है, अपनी जाति की विभिन्न अवस्थाओं को पार करता जाता है, जबतक कि वह अपनी जाति की उन्नत अवस्था तक नहीं पहुंच जाता। अन्तर केवल यही है कि वह तेजी से और जल्दी-जल्दी पार कर लेता है। अब समस्त मानव-समाज को अथवा समस्त प्राणि-जगत एवं मनुष्य और निम्नस्तर के प्राणियों की समष्टि को एक जाति मान लो। एक ऐसा ध्येय है, जिसकी ओर यह समष्टि बढ़ रही हैं। उस ध्येय को हम 'पूर्णत्व' नाम दे दें। कुछ पुरुष ऐसे होते हैं, जो मानव समाज के भविष्यकालीन सम्पूर्ण विकास की कल्पना पहले ही कर लेते हैं। सम्पूर्ण मानव-समाज जबतक उस पूर्णत्व को न पहुंचे, तबतक प्रतीक्षा करते एवं बारम्बार जन्म लेने की अपेक्षा, वे जीवन के कुछ ही वर्षों में इन सब अवस्थाओं का अतिक्रमण करके पूर्णता की ओर आगे बढ़ जाते हैं। और हम जानते हैं कि हम इन अवस्थाओं में से तेजी से आगे बढ़ सकते हैं, यदि केवल हम आत्मवंचना न करें। असंस्कृत मनुष्यों को यदि हम एक द्वीप पर छोड़दें और उन्हें कठिनाई से पर्याप्त खाने, ओढ़ने तथा रहने को मिले, तो वे धीरे-धीरे उन्नत होकर संस्कृति की एक-एक सीढ़ी पर चढ़ते चले जाएँगे। हम यह भी जानते हैं कि इस विकास की गति को अन्य विशेष साधनों द्वारा ही बढ़ाया जा सकता है। क्या हम वृक्षों की बाढ़ में सहायता नहीं करते? यदि वे निसर्ग पर छोड़ दिए जाते, तो भी वे बढ़ते, अन्तर केवल यही है कि तब उन्हें अधिक समय लगता। निसर्गतः लगने वाले समय से कम समय में ही उनकी वृद्धि के लिए हम सहायता पहुंचाते हैं। कृत्रिम साधनों द्वारा वस्तुओं की बाढ़ को अधिक बढ़ा देना—हम यही निरन्तर करते

आए हैं। तो फिर हम मनुष्य का विकास शीघ्रतर क्यों नहीं कर सकते ? हम सम्पूर्ण जाति के विषय में ऐसा कर सकते हैं। विदेशों में प्रचारक क्यों भेजे जाते हैं ? इसलिए कि हम इन उपायों द्वारा जाति की शीघ्र उन्नति कर सकते हैं। तो. अब क्या हम व्यक्तित्व का विकास शीघ्रतापूर्वक नहीं कर सकते ? अवश्य कर सकते हैं। क्या हम इस विकास की शीघ्रता की कोई मर्यादा बाँध सकते हैं ? हम यह नहीं कह सकते कि मनुष्य एक जीवन में इतनी उन्नति कर सकता है। ऐसा कहने के लिए तुम्हारे पास कोई आधार नहीं है कि मनुष्य केवल इतनी ही उन्नति कर सकता है; इससे अधिक नहीं। अनुकूल परिस्थिति से उसका विकास आश्चर्यजनक शीघ्रता से हो सकता है, तो फिर क्या मनुष्य के पूर्ण विकसित होने के पहिले उसके विकास की गति की कोई मर्यादा हो सकती है ? अतः इस सबका तात्पर्य क्या है ? यही कि मनुष्य इस जन्म में ही पूर्णत्व का लाभ कर सकता है, एवं उसे इसके लिए संसार में करोड़ों वर्ष तक आवागमन की आवश्यकता नहीं है। और इसी बात को योगी कहते हैं कि सब बड़े अवतार तथा धर्म-संस्थापक ऐसे ही पुरुष होते हैं, जिन्होंने इस एक ही जीवन में पूर्णत्व को प्राप्त कर लिया है। संसार के इतिहास के प्रत्येक समय में इस प्रकार के मनुष्य जन्म लेते आए हैं। अभी कुछ ही समय पूर्व एक ऐसे महापुरुष ने जन्म लिया था, जिन्होंने मनुष्य समाज के समस्त जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का अनुभव अपने इसी जीवन में कर लिया था, जो इसी जीवन में पूर्णत्व तक पहुँच गए थे। परन्तु विकास की यह द्रुतगति भी कुछ नियमों के अनुसार होनी चाहिए। अब ऐसी कल्पना करो कि हम इन नियमों को जान सकते हैं, उनका रहस्य समझ सकते हैं तथा उन्हें अपनी आवश्यकताएँ पूर्ण करने के लिए उपयोग में ला सकते हैं. तो

यह स्पष्ट है कि इससे हमारा विकास होगा। यदि हम शीघ्रतर अपनी बाढ़ करें, शीघ्रतर अपना विकास करें तो हम इस जीवन में ही पूर्ण विकसित हो सकते हैं। हमारे जीवन का उदात्त अंश यही है तथा मनोविज्ञान एवं मन की शक्तियों का अभ्यास, इस पूर्ण विकास को ही अपना ध्येय मानता है। पैसा तथा भौतिक वस्तुएँ देकर दूसरों की सहायता करना तथा उन्हें सुगमतापूर्वक जीवन व्यतीत करना सिखाना—ये सब तो जीवन की केवल गौण बातें हैं।

मनुष्य को पूर्ण विकसित बनाना—यही इस शास्त्र का उपयोग है। युग-युगों तक प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार एक काठ का टुकड़ा केवल खिलौना बनाकर समुद्र की लहरों द्वारा इधर-उधर फेंक दिया जाता है, उसी तरह हम भी प्रकृति के जड़ नियमों के हाथों खिलौना बनें, यह आवश्यक नहीं है। यह शास्त्र चाहता है कि तुम शक्तिशाली बनो, उन्नति के कार्य अपने ही हाथ में लो, प्रकृति के भरोसे पर उन्हें मत छोड़ो और इस छोटे-से जीवन के उस पार हो जाओ। यही वह उदात्त ध्येय है।

मनुष्य के ज्ञान, शक्ति तथा सुख की वृद्धि होती जा रही है। हम एक जाति के रूप में निरन्तर उन्नति करते जा रहे हैं। हम देखते हैं कि यह सत्य है, बिलकुल सत्य है। क्या यह प्रत्येक व्यक्ति के विषय में भी सत्य है? हाँ! कुछ अंश तक सत्य है। परन्तु फिर वही प्रश्न उठता है कि इसकी सीमारेखा कौनसी है? मैं तो केवल कुछ ही गज की दूरी तक देख सकता हूँ, परन्तु मैंने एक ऐसा मनुष्य भी देखा है, जो अपनी आँखें बन्द कर लेता है और फिर भी यह बता देता है कि दूसरे कमरे में क्या हो रहा है। यदि तुम कहो कि हम इस बात पर विश्वास

नहीं करते तो सम्भवतः वह मनुष्य तीन सप्ताह के भीतर तुममें भी वैसी ही सामर्थ्य उत्पन्न कर देगा। यह किसी भी मनुष्य को दिखाया जा सकता है। कुछ मनुष्य तो केवल पाँच मिनट के भीतर ही यह जानना सीख सकते हैं कि दूसरे मनुष्य के मन में क्या चल रहा है। ये बातें प्रत्यक्ष करके दिखाई जा सकती हैं।

अब यदि यह बात सत्य है, तो सीमारेखा कहाँ पर खींची जा सकती है? यदि मनुष्य कोने में बैठे हुए दूसरे मनुष्य के मन में क्या चल रहा है, इसे जान सकता है, तो वह दूसरे कमरे में बैठे रहने पर भी क्यों नहीं जान सकेगा? और इतना ही क्यों, वह कहीं पर बैठकर भी क्यों नहीं जान सकेगा? हम यह नहीं कह सकते कि ऐसा क्यों नहीं होगा। हम यह कहने की हिम्मत नहीं कर सकते कि यह असम्भव है। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि हम नहीं जानते हैं कि यह किस तरह सम्भव है। 'ऐसी बातें होना असम्भव है' ऐसा कहने का भौतिक वैज्ञानिकों को कोई अधिकार नहीं। वे केवल यह कह सकते हैं कि हम नहीं जानते। विज्ञान का कार्य केवल इतना ही है कि वह घटनाओं को एकत्र कर उन पर सिद्धान्त बाँध, अनुस्यूत नियमों को निकाले तथा सत्य का विधान करे। परन्तु यदि हम घटनाओं को ही अस्वीकार करने लगें, तो विज्ञान कैसे बन सकता है?

मनुष्य कितनी शक्ति का सम्पादन कर सकता है. इसका कोई अन्त नहीं है। भारतीय मन की यही विशेषता है कि उसे जब किसी एक वस्तु में रुचि उत्पन्न हो जाती है, तो वह उसी में मग्न हो जाता है तथा अन्य बातों को भूल जाता है। तुम जानते हो कि भारतवर्ष में कितने शास्त्रों का उद्गम

हुआ है। गणितशास्त्र का आरम्भ वहीं पर ही हुआ। तुम लोग आज भी संस्कृत अंकगणना पद्धति के अनुसार एक, दो-तीन आदि शून्य तक गिनते हो, और तुम्हें यह भी ज्ञात है कि बीजगणित का उदय भी भारत में ही हुआ था। उसी प्रकार न्यूटन का जन्म होने के सहस्रों वर्ष पूर्व ही भारतीयों को गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त ज्ञात था।

इस विशेषता की ओर कुछ ध्यान दो। भारतीय इतिहास के एक समय में भारतवासियों का चित्त मानव तथा मानवी-मन के अभ्यास में ही डूब गया था और यह विषय अत्यन्त आकर्षक था, क्योंकि अपनी ध्येय-वस्तु प्राप्त करने का उन्हें यह सबसे सरल तरीका लगा। इस समय भारतवासियों का यह दृढ़ निश्चय होगया था कि विशेष नियमों के अनुसार परिचालित होने से मन कोई भी कार्य कर सकता है और इसीलिए मन की शक्तियाँ ही उनके अध्ययन का विषय बन गई थीं। जादू, मन्त्र, तंत्र तथा अन्यान्य सिद्धियाँ कोई असाधारण बातें नहीं हैं, इन्हें भी उतनी ही सरलता से सिखाया जा सकता है, जितना कि इनके पहले भौतिकशास्त्र सिखाए गए थे। इन बातों पर उन लोगों पर इतना दृढ़ विश्वास बैठ गया कि भौतिकशास्त्र प्रायः मृतक की भाँति हो गए। यही एक बात थी, जिसने उनका मन खींच रक्खा था। योगियों के विभिन्न सम्प्रदाय अनेक प्रकार के प्रयोग करने लगे। कुछ लोगों ने प्रकाश के सम्बन्ध में प्रयोग किए तथा यह जानना चाहा कि विभिन्न वर्णों की किरणों का शरीर पर कौनसा प्रभाव पड़ता है। वे विशेष रंग का कपड़ा पहनते थे, विशेष रंग में वास करते थे तथा विशेष रंग के ही अन्न खाते थे। इस प्रकार सब तरह के प्रयोग किए जाने

लगे। दूसरों ने अपने कान बन्द करके अथवा खुले रखकर ध्वनि के सम्बन्ध में प्रयोग करना आरम्भ किया तथा अन्य लोगों ने प्राणेन्द्रियों के सम्बन्ध में प्रयोग किए। सभी का एक ध्येय था—वस्तु के मूल अथवा सूक्ष्म कारण तक किस तरह पहुंचा जाय; और उनमें से कुछ लोगों ने आश्चर्यजनक सामर्थ्य प्रकट की। वहुतों ने आकाश में विचरने तथा उड़ने का प्रयत्न किया। मैं एक वड़े पाश्चात्य विद्वान की बताई हुई एक कहानी कहूँगा। सीलोन के गवर्नर ने, जिन्होंने इस घटना को प्रत्यक्ष देखा था, उससे कही थी। एक लड़की लाई गई और वह पालथी मार कर स्टूल पर बैठ गई। स्टूल की लकड़ियों को आड़ी-टेढ़ी जमाकर बना दिया गया था। कुछ देर तक उसके उस स्थिति में बैठने के पश्चात् वह तमाशा दिखाने वाला मनुष्य धीरे-धीरे एक-एक करके उन लकड़ियों को हटाने लगा और वह लड़की हवा में अधर ही लटकती रह गई। गवर्नर ने सोचा कि इसमें कोई चालाकी है, अतः उन्होंने तलवार खींची और तेजी के साथ उस लड़की के नीचे से घुमाई, परन्तु लड़की के नीचे कुछ भी नहीं था। अब बताओ, यह क्या है? यह कोई जादू नहीं था और न कोई असाधारण बात ही थी। यही विशेषता है। कोई भी भारतीय यह नहीं कहेगा कि इस प्रकार की घटना नहीं होती। हिन्दू के लिए यह एक साधारण-सी बात है। तुम जानते हो कि जब हिन्दुओं को शत्रुओं से युद्ध करना होता है, तो वे क्या कहते हैं? "हमारा एक योगी तुम्हारे झुंड-के-झुंड को मार भगाएगा!" उस राष्ट्र का यह दृढ़ विश्वास है। हाथ अथवा तलवार में शक्ति कहाँ है? शक्ति तो आत्मा में है।

यदि यह सत्य है, तो मन के लिए प्राणपण से प्रयत्न

करने के लिए काफी प्रलोभन है। किसी बड़े यश का सम्पादन करना प्रत्येक विज्ञान में जिस प्रकार कठिन है, उसी प्रकार इस क्षेत्र में भी है। इतना ही नहीं, अपितु यहाँ तो और भी अधिक कठिन है। फिर भी अनेक लोग यह समझते हैं कि इन शक्तियों को सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। तुम्हें सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए कितने वर्ष व्यतीत करने पड़ते हैं ? तनिक इसका तो विचार करो। बिजली अथवा यंत्र सम्बन्धी ज्ञान के अध्ययन में ही तुम्हें कितने वर्ष व्यतीत्त करने पड़ते हैं ? और फिर सम्पूर्ण आयु उसे अमल में लाते रहना पड़ता है।

फिर,अन्य विज्ञानों का विषय है स्थिर वस्तुएँ—ऐसी वस्तुएँ जो हलचल नहीं करतीं। तुम कुर्सी का प्रथक्करण कर सकते हो, कुर्सी दूर नही भाग जाती। परन्तु यह मनोविज्ञान मन को अपना विषय बनाता है—वह मन, जो सदैव चंचल है। तुम ज्योंही उसका अध्ययन करना चाहते हो, वह भाग जाता है। अभी मन में एक वृत्ति विद्यमान है, फिर दूसरी उदय होती है। बस, इस प्रकार मन सदैव ही बदलता जाता है। उसकी इस चंचलता में ही उसका अध्ययन करना पड़ता है, उसे समझना पड़ता है, उसका आकलन करना पड़ता है, उसे अपने वश में लाना पड़ता है। अतः देखो, यह शास्त्र कितना अधिक कठिन है ! यहाँ कठोर अभ्यास की आवश्यकता है। लोग मुझसे पूछते हैं कि आप प्रत्यक्ष प्रयोग करके क्यों नहीं सिखाते ? तो यह मज़ाक नहीं है। मैं इस मंच पर खड़े-खड़े सम्भाषण करता हूँ और तुम सुनकर घर चले जाते हो। न तो तुम्हें कोई लाभ होता है और न मुझे हो। उस समय तुम कहते हो—"यह सब पाखंड है।" ऐसा इसलिए होता है कि तुम्हीं इसे पाखंड बनाना चाहते थे। इस शास्त्र का मुझे बहुत थोड़ा ज्ञान है, परन्तु मैं जो

कुछ थोड़ा-बहुत जानता हूँ, उसके लिए मैंने तीस वर्ष तक अभ्यास किया है,और छै साल हुए लोगों को उसे सिखा रहा हूँ। मुझे अभ्यास के लिए तीस वर्ष लगे। तीस वर्ष का कठिन प्रयत्न ? कभी-कभी तो मैं चौबीस घण्टों में बीस-बीस घन्टे तक साधना करता रहा हूँ। कभी रात में केवल एक घण्टे ही सोया। कभी मैंने रात-रात भर प्रयोग किए हैं और कभी-कभी मैं ऐसे स्थानों में रहा, जहाँ किसी तरह का कोई शब्द नहीं था, सांस तक की आवाज नहीं थी। कभी मुझे गुफाओं में भी रहना पड़ा। तुम इस बात का विचार करो। और फिर भी मुझे बहुत थोड़ा मालूम है अथवा यों कहिए कि बिलकुल ही नहीं मालूम है। मैंने बड़ी कठिनाई से इस शास्त्र के किनारे मात्र को छू पाया है, परन्तु मैं समझता हूँ कि यह सत्य है, अपार है तथा आश्चर्यजनक है।

अब,यदि तुममें से इस शास्त्र का कोई वास्तव में अध्ययन करना चाहता है, तो उसी तरह के निश्चय से आरम्भ करना होगा, जिस निश्चय से वह किसी व्यवसाय का आरम्भ करता है। इतना ही नहीं, अपितु संसार के किसी भी व्यवसाय की अपेक्षा उसे इसमें अधिक दृढ़ निश्चय लगाना होगा।

व्यवसाय के लिए कितने मनोयोग की आवश्यकता होती है और वह व्यवसाय हमसे कितने कड़े परिश्रम की मांग करता है ? यदि माता, पिता, पत्नी अथवा बच्चे की मृत्यु भी हो जाय, तो भी व्यवसाय नहीं रुकता। चाहे हमारे हृदय के टुकड़े-टुकड़े हो रहे हों, फिर भी हमें व्यवसाय के स्थान पर जाना ही होगा, चाहे व्यवसाय का प्रत्येक ढङ्ग हमारे लिए यंत्रणा-स्वरूप ही क्यों न हो। इसे कहते हैं व्यवसाय, और

हम समझते हैं कि यह ठीक ही है; इसमें कोई अन्याय नहीं है।

यह शास्त्र किसी भी अन्य व्यवसाय से अधिक लगन माँगता है। व्यवसाय में तो अनेक व्यक्ति सफलता प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु इस मार्ग में बहुत थोड़े ही सफल होते है,क्योंकि यहाँ पर मुख्यतः साधक के मानसिक गठन पर ही सब कुछ आधारित रहता है। जिस तरह व्यवसायी, चाहे दौलत जोड़ सके अथवा न जोड़ सके, कुछ कमाई तो अवश्य कर लेता है, उसी तरह इस शास्त्र के प्रत्येक साधन को कुछ ऐसी झलक अवश्य मिलती है, जिससे उसका विश्वास हो जाता है कि ये बातें सत्य हैं तथा ऐसे मनुष्य हो गए हैं, जिन्होंने इन सबका पूर्ण अनुभव कर लिया था।

यह इस शास्त्र की केवल रूपरेखा है। यह शास्त्र स्वतः प्रमाण एवं स्वयं-प्रकाश है तथा किसी भी अन्य शास्त्र अथवा विज्ञान को यह अपने से तुलना करने के लिए ललकारता है। संसार में पाखंडी, जादूगर, धोखेबाज अनेक हो गए हैं, और विशेषकर इस क्षेत्र में। ऐसा क्यों? इसीलिए कि जो व्यवसाय जितना अधिक लाभदायक होता है, उसमें उतने ही अधिक पाखंडी तथा धोखेबाज होते हैं। परन्तु यह उस व्यवसाय के अच्छे न होने का कोई कारण नहीं है। एक बात और बता देना चाहता हूँ। इस शास्त्र के अनेकों वादों को सुनना बुद्धि के लिए चाहे बड़ी अच्छी कसरत हो, तथा आश्चर्यजनक बातें सुनने से चाहे तुम्हें बौद्धिक संतोष प्राप्त होता हो, परन्तु यदि तुम्हें वास्तव में कुछ सीखने की इच्छा है, तो केवल भाषणों को सुनने से ही काम नहीं चलेगा। यह व्याख्यानों द्वारा नहीं

सिखाया जा सकता, क्योंकि यह शास्त्र अनुभूतिनिष्ठ है और अनुभूति ही अनुभूति प्रदान कर सकती है। यदि तुम में से वास्तव में कोई अध्ययन करना चाहता है, तो उसकी सहायता करने में मुझे अत्यन्त प्रसन्नता होगी।

मेरा जीवन और ध्येय



देवियो तथा सज्जनो ! आज प्रातःकाल का विषय वेदान्त दर्शन था, परन्तु मनोरंजक होते हुए भी यह विषय अधिक विशाल तथा कुछ रूखा-सा है। अभी-अभी आप के अध्यक्ष महोदय तथा अन्य देवियों एवं सज्जनों ने मुझसे अनुरोध किया है कि मैं अपने कार्य के सम्बन्ध में उनसे कुछ निवेदन करूँ। यह आप लोगों में से कुछ को भले ही रुचिकर जान पड़े, परन्तु जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मुझे इसमें कोई विशेष रस नहीं आता है। सच पूछिए तो मैं स्वयं उलझन में हूँ कि उसे किस तरह कहूँ, क्योंकि अपने जीवन में इस विषय पर बोलने का मेरा यह पहला ही अवसर है।

अपने कार्य का अंकन करने के लिए, मैं अपने अल्पातिअल्प स्वरूप में जो कुछ भी कर सका हूँ, मैं चाहूँगा कि आपको कल्पना द्वारा भारतवर्ष ले चलूँ। समय का अभाव है, विषय के अनेकों अंग-उपांग हैं तथा इस विदेशी जाति की गहनताओं का

विश्लेषण है । सब तरह की कठिनाइयाँ तो हैं, फिर भी इतना अवश्य सोचता हूँ कि कम-से-कम इतना तो बता ही सकूँ कि भारतवर्ष वास्तव में कैसा देश है ।

भारतवर्ष एक ऐसी विशाल इमारत की भाँति है, जो एकाएक ढहा दी गई हो। पहले देखने पर जिसके जीर्णोद्धार की कोई आशा किरण न हो । वह एक बीते हुए राष्ट्र का भग्नावशेष है। परन्तु थोड़ा और रुकिए, रुककर देखिए, तो जान पड़ेगा कि इन सब खंडहरों के अन्तराल में कुछ और भी महत्वपूर्ण वस्तुएँ हैं । सत्य तो यह है कि वह तत्व, वह आदर्श, जिसकी कि मनुष्य बाहरी व्यंजना मात्र है, जबतक कुंठित अथवा नष्टभ्रष्ट नहीं हो जाता, तबतक मनुष्य भी निर्जीव नहीं होता, तबतक उसके जीर्णोद्धार की आशा भी समाप्त नहीं होती । यदि आपके कोट को कोई बीसियों बार चुराले, तो क्या उससे आपका अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा ? आप नया कोट बनवा लेंगे, कोट आपका अनिवार्य अंग नहीं है । सारांश यह कि यदि किसी धनी व्यक्ति की चोरी हो जाय, तो उसकी जीवनीशक्ति का अन्त नहीं हो जाता, उसे निष्प्राण नहीं कहा जा सकता। मनुष्य तो जीवित ही रहेगा।

इस सिद्धान्त के आधार पर खड़े होकर हम अवलोकन करें तथा देखें आज भारत एक राजनैतिक शक्ति नहीं, अपितु वह दासता में बँधी हुई जाति है । भारतियों की अपने शासन में कोई पूछ नहीं, उनका कोई स्थान नहीं—वे तो केवल तीस करोड़ गुलाम हैं—और कुछ नहीं । भारतवासी की औसत आय डेढ़ रुपया प्रति महीना है । अधिकांश समुदाय की जीवनचर्या उपवासों की कहानी है। और आय

थोड़ी-सी भी कम हो जाय तो लाखों ही मनुष्य काल के ग्रास बन जाते हैं। थोड़ा-सा अकाल, मृत्यु की भयानक विभीषिका बन बैठता है। अतः जब मेरी उस ओर दृष्टि जाती है, तो मुझे निराशा, सर्वनाश तथा बेबसी दिखाई देती है।

परन्तु हमें यह भी विदित है कि हिन्दूजाति कभी भीं धन के पीछे नहीं पड़ी। धन उन्हें खूब मिला, यह बात अलग है—अन्य राष्ट्रों से कहीं अधिक धन मिला, परन्तु हिन्दूजाति धन के पीछे कभी भी नहीं लगी। युगों तक भारतवर्ष शक्तिशाली बना रहा, परन्तु फिर भी शक्ति उसका आदर्श नहीं बनी। उसने अपनी शक्ति का उपयोग विदेश से बाहर जाकर किसी पर विजय प्राप्त करने में कभी नहीं किया। वह अपनी सीमाओं में सन्तुष्ट रहा, अतः उसने कभी भी किसी से युद्ध नहीं किया, वह कभी भी साम्राज्य-शाही की यशलोलुपता का शिकार नहीं हुआ। धन तथा शक्ति उस जाति की प्रेरणाकभी नहीं बन सकी।

तो फिर उसका मार्ग उचित था अथवा अनुचित—यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं है, अपितु बात यह है कि यही एक ऐसा राष्ट्र है, मानववंशों में एक ऐसी जाति है जिसने श्रद्धापूर्वक सदैव यही विश्वास किया कि यह जीवन वास्तविक नहीं है, यह जीवन सत्य नहीं है, सत्य तो परमात्मा हैं, वास्तविक तो प्रभु है और इसलिए दुःख तथा सुख में हमारी लगन उसी से बढ़े। अपने ह्रास के बीच में भी उसने धर्म को पहला स्थान दिया है। हिन्दू का खाना धार्मिक, उसका पीना धार्मिक, उसकी नींद धार्मिक, उसकी चाल-ढाल धार्मिक उसके

विवाहादि धार्मिक, यहाँ तक कि उसकी चोरी करने की प्रेरणा भी धार्मिक है।

क्या आपने ऐसा देश अन्यत्र भी देखा है? यदि वहाँ एक डाकुओं के गिरोह की आवश्यकता होगी, तो उसका नेता एक धार्मिक तत्त्व गढ़कर उसका प्रचार करेगा, उसकी कुछ खोखली-सी आध्यात्मिक पृष्ठभूमि रचेगा तथा फिर उद्घोष करेगा कि परमात्मा तक पहुंचने का यही सबसे सुस्पष्ट तथा शीघ्रगामी मार्ग है। तभी लोग उस के अनुचर बनेंगे—अन्यथा नहीं। इसका केवल एक ही कारण है और वह यह है कि इस जाति की सजीवता, इस देश की प्रेरणा धर्म है, और चूँकि धर्म पर अभी आघात नहीं हुआ, इसलिए यह जाति जीवित है, यह देश निष्प्राण नहीं है।

रोम की ओर देखिए। रोम की प्रेरणा थी—साम्राज्य-लिप्सा—शक्ति का विस्तार, और ज्योंही उस पर तनिक-सा आघात हुआ कि वह टूक-टूक हो गया—रोम छिन्न-भिन्न हो गया, विलीन हो गया। यूनान की प्रेरणा थी—बुद्धि। जैसे ही उस पर आघात हुआ कि यूनान की इतिश्री हो गई। और, वर्तमान युग में स्पेन आदि वर्तमान देशों का भी यही हाल हुआ है। प्रत्येक राष्ट्र का संसार के लिए संदेश होता है, एक प्रेरणा होती है, और जबतक वह संदेश आक्रान्त नहीं होता, तबतक वह राष्ट्र जीवित रहता है—चाहे कोई भी संकट क्यों न आवें। परन्तु जैसे ही वह प्रेरणा नष्ट हुई कि वह राष्ट्र भी ढह जाता है।

भारतवर्ष की वह सजग सजीवता अभी भी आक्रान्त नहीं हुई है, उसे उन्होंने त्यागा नहीं है, अंधविश्वासों के रहते हुए भी वह आज भी शक्तिशाली है। वे अन्धविश्वास भयानक

हैं—जघन्य एवं घृणास्पद, परन्तु आप उनकी चिन्ता मत कीजिए। राष्ट्रीय प्राणशक्ति तो अभी भी जीवित है—जाति की प्रेरणा एवं उसका मार्ग अभी मरा नहीं है।

भारतीय राष्ट्र कभी भी बलशाली तथा दूसरों को पराजित करने वाला राष्ट्र नहीं बनेगा—कभी भी नहीं। वह कभी भी एक राजनैतिक शक्ति नहीं बन सकेगा, ऐसी शक्ति बनना उसका व्यवसाय ही नहीं है। राष्ट्रों की संगीत-लहरी में भारतवर्ष इस तरह का स्वर कभी गा ही नहीं सकेगा। परन्तु आखिर भारत का स्वर क्या होगा ? वह स्वर होगा—ईश्वर ! परमात्मा का भारतवर्ष उससे मृत्यु की भाँति चिपटा हुआ है, अतः उसमें अभी भी आशा है। इस विश्लेषण के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि ये सब विभीषिकाएँ, ये सब दैन्य-दारिद्रय तथा दुःख किसी महत्व के नहीं—भारत पुरुष अभी भी जीवित है, और इसीलिए अभी भी उसकी आशा है।

वहाँ समस्त देश में आपको धार्मिक आन्दोलनों का बाहुल्य दिखाई देगा। मुझे ऐसा एक भी वर्ष याद नहीं, जब कि भारतवर्ष में अनेक नवीन सम्प्रदाय उत्पन्न न हुए हों। जितनी ही उद्दामधारा होगी, उसमें उतने ही भ्रमर तथा चक्र उत्पन्न होंगे—यह स्वाभाविक है। इन सम्प्रदायों को अवनति का सूचक नहीं माना जा सकता, ये तो जीवन के चिन्ह हैं। इन सम्प्रदायों में वृद्धि होने दीजिए—इतनी वृद्धि कि हममें से प्रत्येक व्यक्ति ही एक सम्प्रदाय हो जाय। प्रत्येक व्यक्ति ! इस विषय को लेकर कलह करने की क्या आवश्यकता है ?

आप अपने देश को ही लीजिए (किसी नुक्ताचीनी के विचार से नहीं) आपके सभी सामाजिक नियम-कानून यहाँ की राजनैतिक संस्था, यहाँ की प्रत्येक वस्तु का निर्माण इसी विचार

से हुआ है कि मानव की इहलौकिक यात्रा सरलतापूर्वक सम्पन्न हो जाय। वह जबतक जीवित है, तबतक खूब सुख-चैन से जीवन व्यतीत करे। अपने राजमार्गों की ओर देखिए, वे सब कितने स्वच्छ हैं। आपके सौन्दर्यशाली नगर और इसके अतिरिक्त वे सभी साधन, जिसके द्वारा धन को निरन्तर दुगुना किया जा सकता है, जीवन के सुखोपभोग करने के कितने ही मार्ग हैं। परन्तु यदि आपके देश में कोई व्यक्ति इस वृक्ष के नीचे बैठ जाय और यह कहने लगे कि मैं तो यहीं पर आसन मारकर ध्यान लगाऊँगा, परिश्रम नहीं करूँगा, तो मुझे विश्वास है कि आप उसे बन्दीगृह में भेज देंगे। उसके लिए जीवन में कोई स्थान नहीं, कोई अवसर नहीं है। इस समाज में कोई भी मनुष्य तभी रह सकता है, जब कि वह समाज की पंक्ति में एकरस होकर काम किया करे। आनन्दोपभोग की इस घुड़दौड़ में प्रत्येक व्यक्ति को अपना हिस्सा बँटाना पड़ता है। उसकी अच्छाइयों को चखना ही उसका पेशा है—यदि न हो तो उसे जीवित रहना भी मुश्किल हो जाय।

अब तनिक भारतवर्ष की ओर चलिए। यदि कोई व्यक्ति वहाँ यह कहे कि मैं इस पर्वत की चोटी पर समाधि लगाकर, त्राटक बाँधकर, अपने शेष जीवन को समाप्त कर देना चाहता हूँ, तो प्रत्येक व्यक्ति उसे आशीर्वाद देकर यह कामना करेगा कि दैव उसकी सहायता करे। उसे कुछ कहने की आवश्यक्ता नहीं है। किसी ने उसे कपड़ा ला दिया और वह संतुष्ट हो गया। परन्तु कोई व्यक्ति आकर यदि यह कहे कि मैं इस जिन्दगी के कुछ ऐशो-आराम का आनन्द लूटना चाहता हूँ, तो सम्भवतः उसके लिए सभी द्वार बन्द मिलेंगे।

मेरा तो यह मत है कि दोनों ही देशों की धारणाएँ

भ्रमात्मक हैं। मुझे कोई कारण नहीं दीखता कि कोई व्यक्ति यहाँ आसन लगाकर, त्राटक बाँधे तबतक क्यों न बैठा रहे, जब तक कि उसकी इच्छा हो। अधिकांश जन-समुदाय जिन बातों को किया करता है, उन्हें वह भी क्यों करता रहे? मुझे तो इसका कोई उचित कारण दिखाई नहीं देता।

इसी तरह मुझे यह भी समझ में नहीं आता कि भारतवर्ष में मनुष्य इस जीवन की सामग्रियों को क्यों न पावे, धनोपार्जन क्यों न करे? वहां तो करोड़ों लोगों के दिमाग में यह विश्वास जबरदस्ती लादा जाता है कि इसके विपरीत जो धारणा है, वही सच्ची है। वहां के साधुओं ने यह जबरदस्ती कर डाली है। यह जबरदस्ती महात्माओं की है, यह जबरदस्ती आध्यात्मवादियों की है, यह जबरदस्ती बुद्धिवादियों की है, तथा यह जोरजबर पंडितों का है। जब पंडित तथा ज्ञानी अपने मत को दूसरों पर लादने का व्यवसाय आरम्भ कर देते हैं, तो वे सहस्रों और लाखों उपाय सोच लेते हैं। अज्ञानियों तथा भोले-भाले लोगों के ऊपर ऐसी बंदिशें लग जाती हैं, कि वे उन्हें तोड़ ही नहीं सकते।

अब मैं यह कहना चाहता हूँ कि इसे एकदम रोक दिया जाय। सहस्रों तथा लाखों का होम करके एक, केवल एक बड़ा आध्यात्मिक दिग्गज पैदा किया जाय—इस बकबास का क्या अर्थ है? यदि हम ऐसे समाज का निर्माण करें जिसमें एक एसा आध्यात्मिक दिग्गज भी हो, और अन्य लोग भी सुखी हों तो वह ठीक है, परन्तु यदि करोड़ों को पीसकर एक ऐसा दिग्गज बनाया गया, तो यह सरासर अन्याय ही हुआ। अधिक उचित तो यह होगा कि सम्पूर्ण संसार के कल्याण के लिए केवल एक व्यक्ति ही दुःख दर्द को सहे।

यदि किसी राष्ट्र में आपको कुछ कार्य करना है, तो उसी राष्ट्र की रीति-विधियों को अपनाना होगा। प्रत्येक आदमी को उसी की भाषा में बताना होगा। यदि आपको अमेरिका अथवा इंगलैण्ड में धर्म की बात का संदेश देना है, तो आपको राजनैतिक रीति-विधियों को स्वीकार करना ही होगा—संस्थाएँ बनानी होंगी, समितियों का गठन करना होगा, वोट देने की व्यवस्था करनी होगी, बैलेट के डिब्बे बनाने होंगे, सभापति चुनना होगा, आदि। सभी खुराफातें करनी होंगी—और वे इसलिए कि पाश्चात्य जातियों की समझ में यही रीति-विधि आती है, उन्हें यही भाषा समझ में आती है। परन्तु भारतवर्ष में यदि आपको राजनीति की बात कहनी है तो धर्म की भाषा को उसका माध्यम बनाना होगा। आप को कुछ इस तरह की भाषा में कहना होगा—"जो मनुष्य प्रतिदिन प्रातःकाल अपना घर साफ करता है, उसे इतना पुण्य प्राप्त होता है। उसे मरने पर स्वर्ग मिलता है, वह भगवान् में लीन हो जाता है यदि।" जबतक आप उनसे इस तरह नहीं कहेंगे, तबतक वे आपकी बात को समझेंगे ही नहीं। यह प्रश्न केवल भाषा का है। जो बात कही जाती है, वह तो एक ही है। प्रत्येक जाति के साथ यही बात है। आप जिस जाति के हृदय को स्पर्श करना चाहते हैं, उससे उसी की भाषा में व्यवहार करें। और यह ठीक भी है, हमें इसमें बुरा नहीं मानना चाहिए।

मैं जिस सम्प्रदाय में सम्मिलित हूँ, उसे सन्यासी की संज्ञा दी जाती है। इस शब्द का अर्थ है—'विरक्त'—जिसने संसार को त्याग दिया हो। यह सम्प्रदाय अत्यन्त प्राचीन है। गौतम बुद्ध, जो ईसा से ५६० वर्ष पहले आविर्भूत हुए, वे भी

इसी सम्प्रदाय में थे। वे इसके सुधारक मात्र थे। यह इतना प्राचीन है कि संसार के सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद में इसका उल्लेख है। प्राचीन भारत का वह नियम था कि प्रत्येक पुरुष और स्त्री अपने जीवन के संध्याकाल में सामाजिक जीवन को त्यागकर, केवल अपने मोक्ष तथा परमात्मा के चिंतन में संलग्न रहे। यह सब उस महान् घटना का स्वागत करने की तैयारी है,जिसे 'मृत्यु' कहते हैं। इसलिए उस प्राचीन युगमें वृद्धजन सन्यासी हो जाया करते थे। बाद में युवकों ने भी संसार त्यागना आरम्भ कर दिया। युवकों में शक्ति बाहुल्य अधिक रहता है। अतः वे एक वृक्ष के नीचे बैठकर सर्वदा अपनी मृत्यु के चिन्तन में ही ध्यान नहीं लगाए रह सके, वे यहाँ-वहाँ जाकर उपदेश देने तथा नए-नए सम्प्रदायों का निर्माण करने लगे। इसी तरह युवा बुद्ध ने भी वह महान् सुधार आरम्भ किया। यदि वे जरा जर्ज्जरित होते, तो केवल नासाग्र पर दृष्टि रखकर ही अपने जीवन को व्यतीत कर देते।

यह सम्प्रदाय कोई गिरजा-सम्प्रदाय नहीं है और न इसके अनुयायी कोई पुरोहित ही हैं। पुरोहितों तथा सन्यासियों में मौलिक भेद है। भारतवर्ष के अन्य व्यवसायों की भाँति पुरोहिती भी सामाजिक जीवन का एक पैतृक व्यवसाय है, पुरोहित का पुत्र उसी तरह पुरोहित बन जाता है, जिस तरह कि बढ़ई का पुत्र बढ़ई अथवा लुहार का बेटा लुहार। पुरोहित को विवाह सूत्र में भी बँधना पड़ता है। हिन्दू का मत है कि पत्नी के बिना पुरुष अधूरा ही है। अविवाहित पुरुष को धार्मिक कृत्य करने का अधिकार नहीं है।

सन्यासियों के पास कोई धन-जायदाद नहीं होती, वे अपना विवाह नहीं करते। उनके ऊपर कोई समाज-व्यवस्था

लागू नहीं होती। उनके ऊपर जो एकमात्र सम्बन्ध लागू होता है, वह है गुरु तथा शिष्य का पारस्परिक सम्बन्ध—अन्य कुछ नहीं। और यह भारतवर्ष की अपनी निजी विशेषता है। गुरु कोई ऐसा व्यक्ति नहीं, जो कहीं से आकर मुझे कुछ शिक्षा देता है और मैं उसे कुछ धन दे देता हूँ तथा बात समाप्त हो जाती है। भारतवर्ष में यह गुरु-शिष्य सम्बन्ध वैसी ही प्रथा है, जैसे पुत्र को गोद लेना। गुरु पिता से भी बढ़कर है और मैं वास्तव में गुरु का पुत्र हूँ—हर तरह से केवल उन्हीं का पुत्र। मैं पिता से बढ़कर उनकी आज्ञा का अनुचर हूँ, वे मेरे पिता से भी बढ़कर सम्मान्य हैं—और वह इसीलिए कि जहाँ मेरे पिता ने मुझे केवल यह शरीर मात्र दिया, वहाँ मेरे गुरु ने मुझे मेरी मुक्ति का मार्ग दिखाया और इसलिए वे पिता से बढ़कर हैं। मेरा अपने गुरु के प्रति यह सम्मान जीवनव्यापी होता है, मेरा प्रेम चिरजीवी होता है, बस, एकमात्र यही सम्बन्ध है, जो बच रहता है। इसी तरह मैं अपने शिष्यों को ग्रहण करता हूँ। कभी-कभी तो गुरु एकदम नवयुवक होता है और शिष्य कहीं अधिक बूढ़ा होता है। परन्तु चिन्ता नहीं, बूढ़ा 'पुत्र' बनता है और मुझे 'पिता' शब्द से सम्बोधित करता है तथा मुझे भी उसे 'पुत्र' अथवा 'पुत्री' कह कर पुकारना पड़ता है।

एक समय की बात है कि मुझे एक बड़े विचित्र से वृद्ध शिक्षक मिले—बिलकुल विचित्र। उन महाशय को बौद्धिक पांडित्य में कुछ चाव नहीं था, वे कदाचित् ही पुस्तकें देखते, उनका मनन करते। परन्तु वे जब छोटी आयु के ही थे, तभी से उनके मन में सत्य को सीधा खोज लेने की अत्यंत तीव्र आकाँक्षा समा गई थी। सर्वप्रथम उन्होंने अपने ही धर्म का प्रयोग किया। जब उनके मन में यह आया कि नहीं, और भी धर्मों

के सत्य को प्राप्त किया जाय । इस उद्देश्य से वे एक के पश्चात् दूसरे धर्मों का अनुष्ठान करते गए । उस समय तक जो कुछ उनसे कहा जाता, वे ध्यानपूर्वक करते, और तबतक उस सम्प्रदाय-विशेष में रहते, जबतक कि उस सम्प्रदाय के विशिष्ट आदर्श का साक्षात्कार न कर लेते । फिर उसके पश्चात् दूसरे सम्प्रदाय की साधना में लग जाते । इस प्रकार जब सब सम्प्रदाय समाप्त होगए, तो उन्हें यह निष्कर्ष मिला कि सभी सम्प्रदाय ठीक हैं। वे किसी में भी दोष न देख सके । प्रत्येक सम्प्रदाय एक ऐसा मार्ग था, जिसके द्वारा लोग एक निश्चित केन्द्र पर ही पहुंचते और उस समय उन्होंने घोषणा की, "यह कितनी प्रशंसा की बात है कि यहाँ इतने अधिक पंथ बन आए हैं, क्योंकि यदि केवल एक ही पंथ होता तो सम्भवतः वह केवल एक ही व्यक्ति को सुविधाजनक होता । इतने अधिक पंथ होने से प्रत्येक व्यक्ति को सत्य तक पहुंच पाने का अधिक से अधिक अवसर प्राप्त है। यदि मैं एक भाषा के माध्यम से नहीं सीख सकता, तो मुझे दूसरी भाषा को आजमाना चाहिए ।" इस प्रकार उन्होंने प्रत्येक धर्म को आशीर्वाद दिया ।

मैं जिन विचारों का संदेश देना चाहता हूँ, वे सब उनके विचारों को प्रतिध्वनित करने की, मेरी अपनी चेष्टा मात्र हैं। इसमें मेरा अपना निजी अथवा मौलिक विचार कोई भी नहीं है । हाँ, जो कुछ असत्य अथवा बुरा है, वह अवश्य ही मेरा है । परन्तु प्रत्येक ऐसा शब्द, जिसे मैं आपके समक्ष कहता हूँ और जो सत्य तथा अच्छा है, केवल उन्हीं की वाणी को झंकार देने का प्रयत्न मात्र है। आप प्रोफेसर मैक्समूलर द्वारा लिखित उनके जीवन-चरित्र को पढ़िए ।

बस, मुझे ये विचार उन्हीं के चरणों में बैठकर प्राप्त हुए। मेरे साथ और भी अनेक नवयुवक थे। मैं केवल बालक ही था। तब मेरी आयु रही होगी केवल सोलह वर्ष की। कुछ तो मुझसे भी छोटे थे तथा कुछ बड़े थे—हम सब लगभग एक दर्जन रहे होंगे। और, हम सबने बैठकर यह निश्चय किया कि हमें इस आदर्श का प्रसार करना है। हम लोग चल पड़े—केवल उस आदर्श का प्रसार करने के लिए ही नहीं, अपितु उसे और भी व्यावहारिक स्वरूप देने के लिए। तात्पर्य यह कि हमें दिखानी थी हिन्दुओं की आध्यात्मिकता, बौद्धों की जीव-दया, ईसाइयों की क्रियाशीलता तथा मुसलमानों का बन्धुत्व, और ये सब अपने व्यावहारिक जीवन के माध्यम द्वारा। हम सबने निश्चय किया—हम एक सार्वभौमिक धर्म का निर्माण करेंगे—अभी, और यहीं। हम रुकेंगे नहीं।

हमारे गुरु एक वृद्धजन थे, जो धन की एक मुद्रा भी कभी हाथ से नहीं छूते थे। बस, जो कुछ थोड़ा-सा भोजन दिया, उसी को ले लिया। कुछ गज कपड़ा, और कुछ नहीं। उन्हें और कुछ स्वीकार करने के लिए कोई प्रेरित ही नहीं कर पाता था। इन सब अनोखे विचारों से युक्त होने पर भी वे बड़े तन्त्र-निष्ठ थे, क्योंकि इसी ने उन्हें स्वतन्त्र बनाया था। भारतवर्ष का सन्यासी आज राजा का मित्र है, उसके साथ भोजन करता है, तो कल वह भिखारी के साथ है और वृक्ष के नीचे सो जाता है। उसे प्रत्येक व्यक्ति से सम्बन्ध रखना है, उसे निरन्तर चलते ही रहना है। कहते हैं'—लुढ़कते पत्थर पर कोई कहाँ ?' अपने जीवन के गत चौदह वर्षों में मैं कभी भी एक स्थान पर एक साथ तीन मास से अधिक नहीं रुका, सदैव ही भ्रमण करता रहा। हम सब-के-सब यही करते हैं।

युवकों के इस छोटे-से गुट ने उन विचारों को अपनाया तथा वे सब व्यावहारिकतापूर्ण सिद्धान्त स्वीकार किए, जो उनसे उद्भूत हुए। सार्वभौमिक धर्म, दीनों से सहानुभूति तथा ऐसी ही बातें जो सिद्धान्त रूप से बड़ी अच्छी हैं, परन्तु जिन्हें चरितार्थ करना आवश्यक था, हमने उसी का बीड़ा उठाया।

तब एक दिन वह दुःखद घटना घटी। हमारे वृद्ध गुरुदेव की महासमाधि हुई। हमसे जितनी बन सकी, उनकी सेवा सुश्रूसा भी की। हमारे कोई मित्र न थे। हमें सुनता भी कौन? हम छोकरे कुछ विचित्र सी विचारधारा को लिए हुए जो थे न? कम से कम भारतवर्ष में तो छोकरों की कोई वक़्त ही नहीं, तनिक सोचिए—बारह लड़के लोगों को बड़ी-बड़ी बातें सुनावें, बड़े-बड़े सिद्धान्त बघारें तथा यह शेखी हाँकें कि वे इन विचारों को जीवन में चरितार्थ, साक्षात् करेंगे! हाँ, सभी ने हँसी की, हँसी करते-करते वे गम्भीर हो गए—हमारे पीछे पड़ गए—उत्पीड़न करने लगे। बालकों के माता-पिता हमें क्रोध से धिक्कारने लगे तथा लोगों ने जैसे-जैसे हमारी ख़िल्ली उड़ाई, वैसे-वैसे हम और भी दृढ़ होते चले गए।

तदनन्तर एक अत्यन्त संकट का समय आया। मुझ पर भी तथा मेरे अन्य बालक-मित्रों पर भी। परन्तु मुझ पर तो और भी भीषण दुर्भाग्य छा गया था! एक ओर थे मेरी माता और भाई। मेरे पिताजी का देहावसान होगया तथा हम लोग असहाय, निर्धन रह गए—इतने निर्धन तथा दरिद्र कि निरन्तर भूखे रहने की नौबत आगई। कुटुम्ब की एकमात्र आशा मैं था, जो थोड़ा कमा कर कुछ सहायता पहुँचा सकता था। मैं दो दुनियाँओं की संधि पर खड़ा था। एक ओर था मेरी माता तथा भाइयों के भूख से तड़फ-तड़फ कर मरने का दृश्य, और दूसरी

और थे उन महापुरुष के विचार, जिनसे--मेरा ख्याल था—केवल भारत का ही नहीं, सम्पूर्ण संसार का कल्याण हो सकता था, और इसीलिए जिनका प्रचार करना, जिन्हें कार्यान्वित करना अनिवार्य था। इस प्रकार मेरा मन महीनों तक इस दुविधा के संघर्ष में पिसता रहा। कभी-कभी तो मैं छः-छः सात-सात दिन और रात निरन्तर प्रार्थना करता रहता था। वह कैसी वेदना थी, मानो मैं जीवित ही नरक में था। कुटुम्ब के नैसर्गिक बन्धन तथा मोह मुझे अपनी ओर खींच रहे थे—मेरा बाल-हृदय भला अपने इतने सगों का दर्द किस तरह देखता रहता? फिर दूसरी ओर किसी से सहानुभूति तक नहीं प्राप्त थी। वास्तव में, बालक की कल्पनाओं से सहानुभूति करता भी तो कौन? ऐसी कल्पनाएँ, जिनसे कि औरों को तकलीफ ही होती? भला, मुझसे किसकी हमदर्दी होती?—किसी की नहीं, किसी की नहीं—सिवाय एक के।

उस एक ही हमदर्दी ने मुझे आशीर्वाद दिया, मुझमें आशा जागृत की। वह थी एकस्त्री। हमारे गुरुदेव वे महासन्यासी बाल्यावस्था में ही विवाहित हो गए थे, युवा होने पर जब उनकी धर्म-प्रवणता अपनी चरम सीमा पर थी, वे एक दिन अपनी पत्नी को देखने गए। बाल्यावस्था में विवाह हो जाने के बाद युवावस्था तक उन्हें परस्पर मेल-मिलाप करने का अवसर बहुत थोड़ा ही मिला था। परन्तु जब वे बड़े हो चुके, तो एक दिन अपनी पत्नी के पास गए और बोले—"देखो, मैं तुम्हारा पति हूँ, इस शरीर पर तुम्हारा अधिकार है; परन्तु मैंने भले ही तुमसे विवाह किया है, फिर भी मैं कामुक-जीवन को अपने गले से नहीं लगा सकता। अब मैं सब कुछ तुम्हारे निर्णय पर छोड़ता हूँ।" यह सुनकर उस महान् स्त्री ने आँखों में आँसू भर

कर कहा—"प्रभु आपको आशीर्वाद दे ! क्या आपकी यह धारणा है कि मैं आपको अधःपतित करने वाली स्त्री हूँ ? बन सकेगा तो मैं आपकी सहायता ही करूँगी । जाइए, अपना कार्य कीजिए ।"

वे ऐसी स्त्री थीं । पति आगे बढ़ते चले गए और अन्त में सन्यासी बन गए । वे अपने मार्ग पर आगे बढ़ते गए और पत्नी अपने ही स्थान पर बैठी हुई, जहाँ तक बन सका वहाँ तक उन्हें सहायता ही पहुंचाती रहीं और बाद में जब वे महापुरुष आध्यात्मिक दिग्गज बन गए, तब वे भी समीप आईं । वास्तव में वे ही उनकी पहली शिष्या बनीं और उन्होंने अपना शेष जीवन उनके शरीर की सुरक्षा तथा सेवा करने में व्यतीत किया । उन्हें तो यह कभी पता भी नहीं चला कि वे जीवित हैं, मृत हैं अथवा कुछ और हैं । वे बोलते-बोलते कई बार तो ऐसे भावाविष्ट हो जाते थे कि जलते हुए अंगारों पर बैठने का भी उन्हें कोई ध्यान नहीं रहता था ! हाँ, जलते हुए अंगारों पर ! उन्हें अपने शरीर की सुधि ऐसी ही भूल जाती थी ।

तो, वे ही एक ऐसी देवी थीं, जिन्हें उन बालकों की विचारधारा से कुछ सहानुभूति थी । परन्तु उनके पास शक्ति ही क्या थी ? वे तो हम लोगों से भी अधिक निर्धन थीं । परन्तु चिन्ता नहीं—हम लोग तो धारा में कूद पड़े थे । मेरा विश्वास था कि इन विचारों से भारतवर्ष अधिक ज्ञान-सम्पन्न होगा तथा भारतवर्ष के अतिरिक्त अन्य देशों एवं जातियों का भी उससे कल्याण होगा । तभी यह अनुभव हुआ कि इन विचारों का नाश होने देने के बदले तो कहीं यह अधिक शुभ होगा कि कुछ मुट्ठी भर लोग स्वयं को मिटाते रहें ।

क्या बिगड़ जाएगा, यदि एक माँ न रहे, और दो भाई मर जाँय ? यह तो बलिदान है, उसे तो करना ही होगा। कोई भी महान् कार्य बलिदान के बिना सिद्ध नहीं हो सकता। कलेजे को बाहर निकालना होगा तथा बाहर निकालने के उपरान्त उसे पूजा की वेदी पर उसी लोहू-लुहान अवस्था में चढ़ा देना होगा। तभी कुछ अच्छी बातें बन सकेंगी। क्या कोई दूसरा भी मार्ग है ? अभी तक तो किसी को मिला नहीं। मैं आप सब लोगों से भी यही प्रश्न करता हूँ। किसी सफल कार्य का कितना मूल्य चुकाना पड़ता है। कैसी वेदना—कैसी पीड़ा ! प्रत्येक सफल पूजा के पीछे कैसी भयानक यातना की कहानी है ! प्रत्येक जीवन में ही ! आप तो उसे जानते हैं, आप में से प्रत्येक व्यक्ति जानता है !

और बस, इसी प्रकार हम लोग, हम बालकों का समूह चलता-बढ़ता गया। हमारे समीप के लोगों ने चारों ओर से हमें जो वस्तु दी, वह थी गालियों और ठोकरों की बौछारें। हमें भोजन के लिए द्वार-द्वार पर भिक्षा मांगनी पड़ी, कहीं हमें दुतकार मिला, और कहीं घुड़की। किस्सा यह कि हमें सब कुछ अनाप-शनाप ही दिया गया। यहां एक टुकड़ा मिला, तो दूसरा वहां। अन्त में हमें एक घर भी मिल गया—टूटा-फूटा, खंडहर, जिसमें रहते थे सिखाए हुए सर्प। परन्तु हमें उसे लेना ही पड़ा—सबसे सस्ता जो था वह ! हम उसमें गए और जाकर उसके भीतर रहे।

इस प्रकार कुछ वर्ष काटे, सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया और यही प्रयत्न किया कि हमारे विचार तथा आदर्श को एक निश्चित स्वरूप प्राप्त हो जाय। दस वर्ष बीत गए—प्रकाश की किरण दिखाई नहीं दी। और भी दस वर्ष बीते।

सहस्रों बार निराशा आई, परन्तु इन सबके बीच हर समय आशा की एक किरण बनी रही। और वह था हम लोगों का उत्कृष्ट पारस्परिक सहयोग, हमारा पारस्परिक प्रेम। आज मेरे साथ लगभग सौ साथी हैं—स्त्री और पुरुष। वे ऐसे हैं कि यदि मैं एकबार शैतान भी बन जाऊँ, तो भी वे मुझे ढाढ़स बँधाते हुए कहेंगे—"अरे ! अभी हम हैं, हम तुम्हें कभी भी नहीं छोड़ेंगे।" और वास्तव में यह मेरा अत्यन्त सौभाग्य है। सुख में, दुःख में, अकाल में, दर्द में, कब्र में, स्वर्ग में और नर्क में जो मेरा साथ न छोड़े, वही मेरा सच्चा मित्र है। क्या ऐसी मैत्री होना हँसी-खेल है ? ऐसी मैत्री से तो मनुष्य को मोक्ष तक प्राप्त हो सकती है। वास्तव में ऐसा प्रेम करने से ही मोक्ष मिलती है। यदि ऐसी भक्ति आ जाय, तो वही समस्त ध्यान धारणाओं का सार है। आपको किसी देवता का पूजन करने की आवश्यकता नहीं, यदि इस संसार में आप में वह भक्ति है, वह श्रद्धा है, वह शक्ति है, वह प्रेम है। और उन संकट के दिनों में हम सब में वही बात थी, तथा उसी के बल पर हमने हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तथा सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक भ्रमण किया।

इन युवकों का समूह भ्रमण करता रहा। धीरे-धीरे लोगों का ध्यान हमारी ओर आकर्षित हुआ, उसमें नब्बे प्रतिशत लोग हमारे विरोधी थे, बहुत थोड़े लोग ही हमारे सहायक थे। हम लोगों की एक सबसे बड़ी कमी यह थी कि हम सब जवान थे, निर्धन थे और जवानी की सम्पूर्ण अनम्रता हममें मौजूद थी। जिसको जीवन में स्वयं अपनी राय बनाकर चलना पड़ता है, वह थोड़ा अविनीत तो हो ही जाता है, उसे अत्यन्त कोमल,

नम्र तथा मिष्ट-भाषी बनने का अवकाश ही कहां मिल पाता है? 'मेरे भाइयो और देवियो !' इत्यादि सम्बोधनों का उसे अवसर कहाँ रहता है ? जीवन में आपने यह सदैव देखा होगा। वह तो बड़ा खुरदरा होता है, उसमें चिकनी पालिश नहीं होती। वह एक मोती है, जिसकी डिबिया अपनी निराली है।

तो हम लोग ऐसे थे। 'समझौता नहीं करेंगे'—यही हमारा मूलमंत्र था। यह आदर्श है और इसे चरितार्थ करना ही होगा। यदि हमें राजा भी मिले, तो भी उससे हम अपनी बात कहे बिना नहीं रहेंगे, भले ही हमें प्राणदंड क्यों न दिया जाय। और यदि किसान मिला, तो उससे भी हम यही कहेंगे। अस्तु, हमारा विरोध होना स्वाभाविक ही था।

परन्तु ध्यान रखिए, जीवन का यही अनुभव है कि यदि आप वास्तव में दूसरों का हित करने के लिए कटिबद्ध हैं, तो भले ही सम्पूर्ण ब्रह्मांड भी आपका विरोध करे, आपका बाल भी बाँका नहीं होगा। यदि आप निःस्वार्थ तथा हृदय के सच्चे हैं, तो आपके अन्तर में निहित परमात्मा की शक्ति के सामने ये सभी विघ्न बाधाएँ क्षार-क्षार हो जाएँगी। हम सब युवक बस ऐसे ही थे। प्रकृति की गोद से पवित्रता तथा ताजगी लिए हुए शिशुओं की भाँति थे। हमारे गुरुदेव ने कहा था—"मैं प्रभु की वेदी पर उन्हीं पुष्पों को चढ़ाना चाहता हूँ, जिनकी सुगन्धि अभी तक किसी ने नहीं ली हो,जिन्हें अपनी उंगलियों से किसी ने स्पर्श न किया हो।" उन महात्मा के ये शब्द हमें जीवन देते रहे। उन्होंने कलकत्ता की गलियों से समेटे हुए इन बालकों के जीवन की सम्पूर्ण भावी रूपरेखा देख ली थी। लोग उन पर हँसते थे, जब कि वे यह कहते थे—"देखना इस लड़के को, उस लड़के को—आगे चलकर वह क्या होगा।" परन्तु उनकी आस्था तथा विश्वास दृढ़ था। कहते थे—"यह तो मुझसे माँ (जगतमाता)

ने कहा है। मैं निर्बल अवश्य हूँ, परन्तु जब वे ऐसा कहती हैं, तब तो भूल हो ही नहीं सकती—वे अवश्य ही सच्ची हैं।"

इस प्रकार चलता रहा। दस वर्ष बीत गए, परन्तु प्रकाश नहीं मिला। इधर स्वास्थ्य दिन-पर-दिन क्षीण होता चला गया। शरीर पर इन बातों का प्रभाव हुए बिना नहीं रह सकता। कभी रात के नौ बजे एक बार खा लिया, तो कभी सवेरे आठ बजे ही एकबार खाकर रह गए, तो दूसरी बार दो दिन के बाद खाना मिला—तीसरी बार तीन दिन के बाद—और हर बार अत्यन्त रूखा-सूखा, नीरस भोजन। अधिकांश समय पैदल ही चलते, बर्फीली चोटियों पर चढ़ते। कभी-कभी तो दस-दस मील पहाड़ पर चढ़ते ही चले जाते—केवल इसीलिए कि एकबार का भोजन मिल जाय। भला बताइए, भिखारी को अपना अच्छा भोजन कौन देता है? फिर रूखी रोटी ही भारतवर्ष में उनका भोजन है और कई बार तो सूखी रोटियां भी बीस-बीस, तीस-तीस दिन के लिए इकट्ठी करके रखली जाती हैं। और जब वे ईंट की भाँति कड़ी हो जाती हैं, तब उनसे षट्रस व्यंजन का उपभोग सम्पन्न होता है। एक बार भोजन पाने के लिए मुझे द्वार-द्वार पर भीख माँगते हुए घूमना पड़ता था। उस पर भी रोटी ऐसी कड़ी मिलती कि खाते-खाते मुँह से खून बहने लगता। अगर सच कहूँ तो यह है कि वैसी रोटी से आप अपने दांतों को तोड़ सकते है। मैं तो रोटी को एक पात्र में रख देता और उसमें नदी का पानी उँड़ेल देता। इस प्रकार महीनों का समय गुजारना पड़ा और मेरा स्वास्थ्य गिरता रहा। तब मैंने सोचा कि भारतवर्ष को अब देख लिया। चलो, अन्य देश को आजमाया जाय। उसी समय आपकी धर्म महासभा भरी जाने वाली थी और वहाँ भारतवर्ष से किसी को

भेजना था। मैं तो एक खानाबदोश जैसा था। परन्तु मैंने कहा—"यदि मुझे भेजा जाय, तो मैं जाऊँगा। मेरा कुछ बनता-बिगड़ता तो है नहीं। और यदि बिगड़े भी तो मुझे चिन्ता नहीं।" पैसा जुटाना बहुत कठिन कार्य था, परन्तु बड़ी खटपट के बाद रुपया एकत्र हुआ और वह भी केवल मेरे किराए भर के लिए था। बस दो-एक महीने पहले ही मैं यहाँ आ गया। क्या करता? न किसी से जान और न पहिचान। बस, रास्तों पर इधर-उधर भटकने लगा।

अन्त में, धर्म-परिषद् का उद्घाटन हुआ और मुझे बड़े स्नेही मित्र मिले, जिन्होंने मेरी अत्यन्त सहायता की। मैंने थोड़ा परिश्रम किया, धन जमा किया तथा दो पत्र निकाले। इसके पश्चात् मैं इंगलैण्ड गया और वहाँ भी काम किया। साथ-ही-साथ अमेरिका में भी भारत के हित के लिए कार्य साधता रहा।

भारत सम्बन्धी मेरी योजना का जो विकास तथा केन्द्रीकरण हुआ है,वह ऐसा ही है। मैं कह चुका हूँ कि सन्यासी लोग वहाँ किस तरह का जीवन व्यतीत करते हैं, किस तरह द्वार-द्वार पर भीख माँगने के लिए जाते हैं और बिना कोई शुल्क लिए धर्म को सब लोगों तक पहुंचाते हैं। बहुत हुआ तो रोटी का एक टुकड़ा ले लिया। यही कारण है कि भारतवर्ष का छोटे-से-छोटा आदमी भी धर्म की ऐसी उच्च प्रेरणाओं को अपने साथ रखता है। यह सब इन्हीं सन्यासियों के कार्यों का फल है। आप उससे प्रश्न कीजिए—"अंग्रेज लोग क्या हैं?"—उसे पता ही नहीं। शायद उत्तर मिल जाय-"वे उन राक्षसों की संतान हैं, जिनका वर्णन उनके ग्रन्थों में है। यही है न?" "तुम्हारा शासक कौन है?"—"हमें पता नहीं।" "शासन क्या

है ?"—"हमें पता नहीं।" परन्तु वे तत्वज्ञान को जानते हैं। जो उनकी यथार्थ कमजोरी है, वह है इस पार्थिव जीवन सम्बन्धी व्यावहारिक बौद्धिक शिक्षा का अभाव। ये करोड़ों मनुष्य इस संसार के परे के जीवन के हेतु सदैव प्रस्तुत रहते हैं—और क्या यही उनके लिए पर्याप्त नहीं है ? नहीं, कदापि नहीं। उन्हें कहीं अच्छे रोटी के टुकड़े की आवश्यकता है, उनके शरीर को कहीं अच्छे वस्त्र के टुकड़े की आवश्यकता है। परन्तु विकट समस्या यही है कि यह अच्छा रोटी का टुकड़ा और अच्छा कपड़ा इन गए बीते करोड़ों मनुष्यों को कहां से प्राप्त हो ?

मैं आपसे पहले यह कह दूं कि उन लोगों के जीवन में बड़ी आशा है, क्योंकि वे संसार में सबसे अधिक नम्र व्यक्ति हैं; परन्तु कायर अथवा भीरु नहीं है। जब उन्हें लड़ना होता है, तो राक्षसों की तरह लड़ते हैं। अंग्रेजों के सबसे अच्छे सैनिक भारतवर्ष की जनता में से ही भरती किए गए। मृत्यु का उनके समक्ष कोई मूल्य नहीं है। उनका तो यह मत है—"बीसियों बार तो मृत्यु हो चुकी है और अभी सैकड़ों बार मृत्यु होनी है। इससे क्या ?" उन्हें पीछे हटना नहीं आता। वे भावुकता के कायल नहीं, अपितु उच्च कोटि के योद्धा हैं।

उन्हें स्वभाव से खेती प्रिय है। आप उन्हें लूट लीजिए, उन्हें कत्ल कर दीजिए, उन पर टैक्स लगा दीजिए, उनके साथ कुछ भी कीजिए, परन्तु जबतक आप उन्हें अपने धर्म का पालन करने की स्वतंत्रता देते हैं, तबतक वे अत्यन्त नम्र बने रहेंगे, बड़े ही शान्त और चुप। वे कभी भी औरों के धर्म से नहीं भिड़ते। 'हमारे देवताओं की पूजा करने की हमें स्वतंत्रता दो, फिर चाहे हमसे और सब कुछ छीन लो'—उनका यही रुख है। जब अँग्रेजों ने उस मर्मस्थल को स्पर्श किया, तो उपद्रव प्रारंभ

होगया। सन् ५७ के ग़दर का यही वास्तविक कारण था—वे धार्मिक दमन को सहन नहीं कर सके। मुस्लिम सरकारें केवल इसीलिए उड़ा दी गईं कि उन्होंने भारतवर्ष के धर्म को छूने की धृष्टता की थी। यदि आप इसे छोड़ दें, तो वे अत्यंत शांतिप्रिय, चुप, नम्र तथा सर्वोपरि, दुर्व्यसनों से दूर रहते हैं। उनमें मादक-पेय का अभाव उन्हें किसी भी देश की साधारण जनता से बहुत ऊँचा उठा देता है। भारतवर्ष के दरिद्रों के जीवन की श्रेष्ठता की तुलना आप अपने देश की बस्तियों के जीवन से नहीं कर सकते। बस्ती का अर्थ निस्संदेह दरिद्रता है, परन्तु भारतवर्ष में दरिद्रता के मानी पाप, गंदगी, व्यभिचार तथा दुर्व्यसन तो कभी होते ही नहीं। अन्य देशों में व्यवस्था ही ऐसी है कि केवल व्यभिचारी तथा आलसी लोग ही दरिद्र बने रहें। यहाँ दरिद्रता का कारण ही नहीं, जबतक कि मनुष्य निपट मूढ़ अथवा मक्कार ही न हो—ऐसा मूढ़, जिसे नागरिक जीवन के ऐश्वर्य का मोह हो। ऐसे लोग गाँव में नहीं जाएँगे। उनका कहना है कि हम तो जीवन के मनोरंजनों और रंगरेलियों के बीच रहते हैं, हमें भोजन दिया ही जाना चाहिए। परन्तु हमारे देश की बात ऐसी नहीं है। वहाँ के दरिद्र सबेरे से शाम तक पसीना बहाते हैं और अन्त में कोई तीसरा आदमी आकर उनके हाथ की रोटी छीन ले जाता है। उनके बच्चे भूख से तड़फते रहते हैं। भारतवर्ष में करोड़ों टन गेहूँ उत्पन्न किया जाता है. परन्तु एक दाना भी तो दरिद्रों के मुंहमें जाय ! वे ऐसे गंदे अन्न पर पलते हैं, जिसे आप अपनी चिड़ियों को भी नहीं खिलाएंगे।

वास्तव में ऐसा कोई कारण नहीं कि इतने अच्छे, इतने पवित्र लोगों को ऐसे सङ्कट उठाने पड़ें। ये विचारे दरिद्र ! हम बहुत सुनते हैं इन कोटि-कोढि दीन-दुःखियों की दुःख भरी

कहानियाँ। वहाँ की पतिता स्त्रियों के दर्द भरे दास्तान ! परंतु कोई उनका दुःख दूर करने, उनका दर्द बटाने के लिए तो आवे। बस, मुँह से कहते ही हैं कि तुम्हारा दुःख, तुम्हारा दर्द तभी दूर हो सकता है, जब कि तुम वह न रहो जो कि आज हो। 'हिन्दुओं को सहायता देना व्यर्थ है।' ऐसा कहने वाले जातियों के इतिहास को नहीं जानते। भारतवर्ष उस दिन बचेगा ही कहाँ, जिस दिन उसकी प्राणदायिनी शक्तियों का अन्त हो जाएगा—जिस दिन वहाँ के निवासी अपना धर्म बदल देंगे—जिस दिन वे अपनी संस्थाओं का रूपान्तर कर देंगे। उस दिन तो वह जाति ही विलीन हो जाएगी। तब आप किसकी सहायता करेंगे ?

एक बात हम सबको और भी सीख लेनी है—और वह यह है कि हम वास्तव में किसी को सहायता नहीं दे सकते। भला, हम एक-दूसरे के लिए कर ही क्या सकते हैं ? आप अपने जीवन में बढ़ते जाते हैं। और मैं अपने जीवन में। अधिक से अधिक यह सम्भव है कि मैं आपको थोड़ा-सा सहारा देकर आगे बढ़ा दूं, ताकि अन्ततः आप भी अपनी मंजिल पर पहुंच जाँय—इस पूरी जानकारी के साथ समस्त संसार की मंज़िले-मकसूद एक ही है—मार्ग अलग अलग हैं। All roads lead to Rome—यह वृद्धि क्रमिक होती है। ऐसी कोई राष्ट्रीय सभ्यता नहीं, जिसे पूर्ण कहा जा सके। सभ्यता को थोड़ा-सा सहारा दे दीजिए और वह लक्ष्य तक पहुंच जाएगी। उसे बदलने का प्रयत्न मत कीजिए। किसी देश से उसकी संस्थाएँ, उसके रीति-रिवाज और उसके चाल-चलन छीन लीजिए, तो फिर भला बचा ही क्या रहेगा ? इन्हीं तन्तुओं से तो सम्पूर्ण राष्ट्र बँधा रहता है !

परन्तु तभी विदेशी पंडित महोदय आते हैं और कहते हैं--'देखिए महाशय, इन सहस्रों वर्षों की संस्थाओं तथा रीतियों को तो आप तिलांजलि दे दीजिए तथा हमारे इस नए मूढ़ता के टिनपाट (tinpot) को गले से लगाइए तथा मौज़ कीजिए !' यह कैसा मज़ाक है !

हमें परस्पर सहायता तो करनी ही होगी, परन्तु इसके भी एक कदम और आगे जाना पड़ेगा। सहायता करने में सबसे अधिक आवश्यक यह है कि हम स्वार्थ से परे हो जाँय। "मैं तुम्हें तभी सहायता दूँगा, जब तुम मेरे कहने के अनुसार ही व्यवहार करोगे, अन्यथा नहीं।" क्या यह सहायता है ?

और इसलिए यदि हिन्दू तुम्हें आध्यात्मिक सहायता पहुंचाना चाहता है, तो वह पूर्ण निरपेक्ष, पूर्ण निःस्वार्थ बनकर ही आगे बढ़ेगा। मैंने दिया और बस, बात वहीं समाप्त होगई-मुझसे दूर चली गई। मेरा मस्तिष्क, मेरी शक्ति, मेरा सर्वस्व जो कुछ भी देना था, मैंने दे दिया—इसलिए दे दिया कि देना था और बस। मैंने देखा है कि जो संसार के आधे लोगों को लूट कर अपना घर भरते हैं वे मूर्त्तिपूजक के सुधार के लिए साठ सहस्र रुपयों का दान करके 'दानवीर' बन जाते हैं। किसलिए ? मूर्त्तिपूजक के सुधार के लिए अथवा अपने ही उत्कर्ष के लिए ? तनिक सोचिए तो सही !

दम्भ के अंकुर फूट रहे हैं। हम अपनी ही आँखों में धूल झोंकना चाहते हैं, परन्तु हमारे हृदय में वह परम सत्य—परमात्मा विद्यमान है, वह कभी नहीं भूलता। हम उसे धोखा नहीं दे सकते, उसकी आँखों में धूल नहीं डाली जा सकती। जहां कहीं सच्ची दानशीलता की प्रेरणा विद्यमान है, उसका प्रभाव तो होगा ही--चाहे वह हजार वर्षों के पश्चात् ही क्यों न हो। भले

ही रुकावट डालो, परन्तु वह जाग उठेगा तथा उल्कापांत की भाँति जोर से उमड़ पड़ेगा। प्रत्येक ऐसी प्रेरणा, जिसका उद्देश्य स्वार्थपूर्ण है, स्वार्थ से प्रेरित है, अपने लक्ष्य पर कभी नहीं पहुंच सकेगी—भले ही आप सब अखबारों को उसकी चमकीली प्रशंसा से रंग डालें, भले ही आप विराट् जनसमूहों को उसका जय-जयकार करने के लिए खड़ा करदें।

मैं अपना गौरव नहीं कह रहा, परन्तु देखिए मैं कह रहा था उन बालकों की कहानी। आज भारतवर्ष में कोई ऐसा गाँव नहीं, कोई ऐसा पुरुष नहीं, कोई ऐसी स्त्री नहीं, जिसे उनके कार्य का पता न हो, जिसका आशीर्वाद उन पर न बरसता हो। देश में ऐसा दुष्काल नहीं, जिसकी दाढ़ में घुसकर ये बालक रक्षा का कार्य न करें, अधिक-से-अधिक लोगों को न बचाएँ। और वही लोगों के हृदय को बेधता है, उन पर जादू डालता है। संसार उसे जान जाता है। अतः जब कभी सम्भव हो, सहायता कीजिए, परन्तु ध्यान रखिए अपने उद्देश्य का, अपने लक्ष्य का। यदि वह स्वार्थी है, तो न उससे औरों का लाभ होगा और न आपका ही। यदि वह स्वार्थ-शून्य है, तो जिसके लिए किया जा रहा है, उसे तो लाभ करेगा ही, परन्तु साथ ही, विश्वास रखिए, आपके ऊपर भी अमोघ आशीर्वादों की वर्षा करेगा। यह बात उतनी ही निश्चित है, जितनी कि आप जीवित हैं। ईश्वर को चकमा नहीं दिया जा सकता। कर्म के नियम को भ्रम में नहीं डाला जा सकता। अस्तु।

अतः मेरी योजना है, भारतवर्ष के इस जनता-जनार्दन तक पहुंचने की। मान लीजिए, इन सब दरिद्रों के लिए आपने पाठशालाएँ खोल भी दीं, तो भी उन्हें शिक्षित करना सम्भव नहीं होगा। कैसे होगा? चार वर्ष का बालक आपकी पाठ-

शाला में जाने की अपेक्षा अपने हल-बखार की ओर जाना अधिक पसंद करेगा। वह आपकी पाठशाला को नहीं जा सकेगा। यह असम्भव है। आत्मरक्षा निसर्ग की पहली सहज प्रवृत्ति है। परन्तु यदि पहाड़ मुहम्मद के पास नहीं जाता, तो मुहम्मद पहाड़ के पास पहुंच सकता है। मैं कहता हूँ कि शिक्षा स्वयं ही द्वार-द्वार पर क्यों न जाय? यदि किसान का लड़का शिक्षा तक नहीं पहुंच पाता, तो हल के पास अथवा कारखाने में अथवा वह जहाँ कहीं भी हो उससे भेंट क्यों न की जाय? उसी की परछाईं की भाँति उसी के साथ जाओ। ये जो सहस्रों तथा लाखों की संख्या में सन्यासी हैं, जो जनता को आध्यात्मिक भूमिका पर शिक्षा प्रदान कर रहे हैं, वे क्यों न बौद्धिक भूमिका पर भी शिक्षा प्रदान करें? वे क्यों न जनता से कुछ इतिहास तथा अन्य विषयों की बातें करें? हमारे कान ही हमारे सबसे प्रभावशाली शिक्षक हैं। हमारे जीवन के सर्वोत्तम सिद्धान्त वे ही हैं, जो हमने कानों द्वारा अपनी माताओं से सुने थे। पुस्तकें तो बाद में आईं, पुस्तक के ज्ञान की भला क्या बिसात है? कानों द्वारा ही हमें सृजनात्मक सिद्धान्तों की उपलब्धि होती है। फिर, जैसे उनकी दिलचस्पी बढ़ने लगेगी, वे आपकी पुस्तकों के पास भी आने लगेंगे। परन्तु पहले उसी तरह चलने दीजिए—मेरा यही विचार है।

मैं यह बता देना चाहता हूँ कि इन सन्यासी सम्प्रदायों में मुझे बहुत अधिक विश्वास नहीं है। यद्यपि उनमें बड़े अच्छे गुण हैं, फिर भी उनमें बुराइयाँ भी बहुत हैं। सन्यासियों तथा गृहस्थों के बीच पूर्ण सन्तुलन अपेक्षित है। परन्तु भारतवर्ष की सम्पूर्ण शक्ति को सन्यासी सम्प्रदायों ने हथिया लिया है। हम उच्चतर शक्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं। सन्यासी राजकुमार

से भी बढ़कर है। भारतवर्ष का ऐसा कोई सम्राट् नहीं, जो गेरुआ वस्त्रधारी सन्यासी के सामने आसन ग्रहण करे। वह अपना आसन छोड़कर खड़ा ही रहता है। इतनी अधिक शक्ति, फिर वह कितने ही अच्छे लोगों के हाथ में क्यों न हो, अच्छी नहीं है-यद्यपि मैं यह मानता हूँ कि इन सन्यासी सम्प्रदायों द्वारा लोगों की सुरक्षा पर्याप्त मात्रा में हुई है। ये सन्यासी पुरोहिताई तथा ज्ञान के बीच में खड़े हुए हैं। ये सुधार तथा ज्ञान के केन्द्र हैं। इनका वही स्थान है जो यहूदियों में पैगम्बरों का था। पैगम्बर सदैव पुरोहितों के विरुद्ध प्रचार करते रहे, कुसंस्कारों को निकाल भगाने की प्रेरणा देते रहे। बस, यही हाल भारतवर्ष में भी हुआ। जो भी हो, परन्तु इतनी शक्ति वहाँ ठीक नहीं, इससे भी अच्छी रीतियों का अनुसन्धान किया जाना चाहिए। परन्तु कार्य उसी मार्ग से किया जा सकता है, जिसमें बाधाएँ सबसे कम हों। भारतवर्ष की सम्पूर्ण राष्ट्रीय आत्मा सन्यास पर ही केन्द्रित है। आप भारतवर्ष में जाइए और गृहस्थ के रूप में कोई धर्म संदेश कहिए। हिन्दू मुँह फेर कर चले जाएँगे, परन्तु यदि आपने संसार को त्याग दिया है, तब वे यह कहेंगे—"हाँ, यह ठीक है, उन्होंने संसार त्याग दिया है। वे सच्चे हैं, वे वही करना चाहते हैं, जिसे कहते हैं।" मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि यह एक प्रचण्ड शक्ति का सूचक है और हमें जो करना है, वह यह है कि हम इसका रूपान्तर कर दें, उसे दूसरा आकार दे दें। परिव्राजक सन्यासियों के हाथों में सन्निहित यह अपरिमित शक्ति रूपान्तरित हो जानी चाहिए, ताकि जनसमूह उद्बुद्ध हो, उन्नत हो।

इस प्रकार हमने कागजों पर तो अच्छी योजना तैयार करली, परन्तु साथ ही मैंने आदर्शवाद से दूर खींच लिया। तब

तक मेरी योजना शिथिल थी, केवल एक आदर्श के रूप में ही थी, परन्तु समय की गति के साथ वह स्थिर और सुस्पष्ट होती गई। उसे सक्रिय बनाते समय मुझे उसके दोष आदि दिखाई पड़ने लगे।

भौतिक भूमिका पर उसे क्रियान्वित करते हुए मुझे क्या ज्ञान प्राप्त हुआ? पहले हमें ऐसे केन्द्रों की जरूरत है, जहां सन्यासियों को ऐसी शिक्षा की रीतियों से अवगत कराने की व्यवस्था हो सके। उदाहरण के लिए, मैं अपने एक मनुष्य को कैमरा लेकर बाहर भेज देता हूँ—परन्तु इसके पूर्व उसके बारे में सिखा देना भी तो आवश्यक है। आप देखेंगे कि भारतवर्ष का प्रत्येक व्यक्ति बिल्कुल निरक्षर है। अतः शिक्षा देने के लिए विशाल केन्द्रों की आवश्यकता है। और इस सब का तात्पर्य क्या हुआ?—पैसा! आदर्श की भूमिका पर से आप दैनिक कार्य-प्रणाली पर उतर आते हैं। मैंने आपके देश में चार वर्ष तक परिश्रम किया और इंगलैण्ड में दो वर्ष। और मैं कृतज्ञ हूँ कि कुछ मित्रों ने मुझे सहारा देकर बचा लिया। आज की मंडली में उनमें से एक महानुभाव उपस्थित हैं। कुछ अमरीकी तथा अंग्रेज मित्र मेरे साथ भारतवर्ष भी गए। हमारा कार्य बड़े शिथिल रूप में आरम्भ हुआ। कुछ अंग्रेज आए तथा सम्प्रदाय में सम्मिलित हुए, एक बेचारे ने तो बहुत परिश्रम किया और भारतवर्ष में उसका देहान्त हो गया। वहाँ अभी भी एक अंग्रेज सज्जन तथा देवी हैं, जिन्होंने अवकाश ग्रहण किया है। उनके पास कुछ साधन हैं। उन्होंने हिमालय में एक केन्द्र का सूत्रपात किया है। वे बालकों को शिक्षा देते हैं। मैंने उनके जिम्मे अपना एक पत्र दे दिया है—'प्रबुद्ध भारत' जिसकी एक प्रतिलिपि

टेबिल पर रक्खी हुई है। वहाँ पर वे लोग जनता को शिक्षा देते हैं तथा उनके बीच कार्य करते हैं। मेरा एक केन्द्र कलकत्ता में है। स्वभावत: राजधानी से ही सब आन्दोलन आरम्भ होते हैं, क्योंकि राजधानी ही तो राष्ट्र का हृदय है। पहले सब रक्त हृदय में ही आता है, वहीं से सब जगह वितरित होता है। अतः सम्पूर्ण धर्म, समस्त विचारधाराएँ, समग्र शिक्षा और सारी आध्यात्मिकता पहले राजधानी में ही पहुंचेगी और फिर वहीं से सब जगह प्रसारित होगी।

मुझे यह बताते हुए हर्ष होता है कि हमने छोटे रूप में श्रीगणेश कर दिया है। ठीक इसी प्रकार की आयोजना, मैं महिलाओं के लिए भी करना चाहता हूँ। मेरा सिद्धांत है कि प्रत्येक अपनी सहायता आप करता है। मेरी सहायता तो दूर की सहायता है। भारतीय स्त्रियाँ हैं, अँग्रेज स्त्रियाँ हैं तथा मुझे आशा है, अमरीकी देवियाँ भी इस कार्य को अपने हाथों में लेने के लिए आएँगी। उनके आरम्भ करते ही मैं अपना हाथ अलग कर लूँगा। पुरुष स्त्री के ऊपर शासन क्यों करे? उसी तरह पुरुष के ऊपर स्त्री का शासन क्यों हो? प्रत्येक स्वतंत्र है। यदि कोई बन्धन है, तो वह केवल प्रेम का है। स्त्रियाँ स्वयं अपने भाग्य का विधान कर लेंगी--पुरुष उनके लिए जो कुछ कर सकते हैं, उससे भी अधिक उत्तम प्रकार से। जो सब अनौचित्य उद्भूत हुआ, वह सब केवल इसलिए कि पुरुषों ने स्त्रियों के भाग्य-विधान का ठेका ले लिया था। और मैं ऐसी गलती करके श्रीगणेश नहीं करना चाहता, क्योंकि समय के साथ यही गलती बड़ी होती चली जाएगी—इतनी बड़ी कि अन्ततः उसके रूप आकार को सँभाल सकना भी असम्भव हो जाएगा। अतः यदि मैंने स्त्रियों के कार्य में पुरुषों को लगाने की

भूल की, तो स्त्रियाँ उससे कभी भी मुक्त नहीं हो सकेंगी—वह एक रस्म ही बन जाएगी। परन्तु मझे एक बार अवसर प्राप्त हुआ है। मैंने आपको अपने गुरुदेव की धर्मपत्नी की बात बताई है। हमारी उन पर अटूट श्रद्धा है। वे कभी भी हम पर शासन नहीं करतीं। अतः यह मार्ग पूर्ण सुरक्षित है।

यह कार्य अभी ही सम्पन्न किया जाना है।



धर्मजीवन की साधनाएँ



आज इस प्रातःकाल के समय मैं प्राणायाम तथा अन्यान्य योग-साधनाओं के विषय में अपने कुछ विचार प्रकट करूँगा। अभी तक हमने केवल तात्विक चर्चा ही की है। अब हम यह देखेंगे कि हम इन सब तत्वों को प्रत्यक्ष आचरण में किस तरह ला सकते हैं। इस विषय पर भारतवर्ष में अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं। जिस प्रकार आप लोग व्यवहार-कुशल हैं, उसी तरह इस विषय में हम भारतवासी हैं। आप में से पाँच मनुष्य इकट्ठे हो जाते हैं और उनका विचार बन जाता है कि वे एक 'जाइन्ट स्टॉक कम्पनी' खोलें और पाँच घंटे के बाद ही वह कम्पनी खुल भी जाती है। परन्तु भारतवर्ष में लोगों से पचास वर्ष में भी ऐसी कम्पनी नहीं खुल सकती। भारतवासी इन बातों में व्यवहारकुशल नहीं हैं, परन्तु यदि कोई नया दर्शन प्रवर्तित करे, तो आप यह निश्चित समझिए कि वह चाहे कितना ही विलक्षण क्यों न हो, उसके अनुयायी निकल ही

पड़ेंगे। उदाहरण के लिए, यदि कोई सम्प्रदाय यह कहे कि बारह वर्ष तक रात-दिन एक पाँव पर खड़े रहने से मुक्ति मिल जाएगी, तो एक पाँव पर खड़े रहने वाले सैकड़ों आदमी मिल जाएँगे। वे सारा कष्ट चुपचाप सहन कर लेंगे। वहाँ ऐसे भी मनुष्य हैं, जो पुण्य प्राप्त करने के लिए वर्षों तक हाथ उठाए रह जाते हैं। मैंने स्वयं ऐसे सैकड़ों व्यक्ति देखे हैं। इनमें से सभी मूर्ख होते हों, ऐसी बात भी नहीं है। उनकी गम्भीरता तथा विशाल बुद्धि को देखकर आप चकरा जाएँगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यवहार-कुशलता शब्द भी सापेक्ष है।

दूसरों की योग्यता निश्चित करते समय हम सदैव यही भूल कर बैठते हैं, हम सदैव यही सोचा करते हैं कि हमारी छोटी-सी बुद्धि जितना समझ सकती है, यह विश्व उतना ही है, हमारी अपनी नीति की कल्पनाएँ, हमारी अपनी कर्तव्य सम्बन्धी भावनाएँ, हमारे अपनी उपयोगिता के विचार—ये ही केवल ऐसी वस्तु हैं, जो लोगों के पाने योग्य हैं। एक दिन, मार्सेल्स से होकर यूरोप जाते समय मैंने देखा कि साँड़ लड़ाए जा रहे हैं। उन्हें देखकर जहाज में बैठे हुए सब अंग्रेज जोश से पागल होगए और कहने लगे कि यह तो बिलकुल बेरहमी है, और बड़े-बड़े दोष बताकर गालियाँ देने लगे। जब मैं इंगलैण्ड गया तो वहाँ मैंने दंगल खेलने वाले लोगों के एक दल के सम्बन्ध में सुना, जो पेरिस गए थे और जिन्हें फ्रांस वालों ने ठोकरें मारकर निकाल दिया था, क्योंकि फ्रांसीसी दङ्गल खेलना बेरहमी समझते हैं। जब इस प्रकार की बातें मैं अनेक देशों में सुनता हूँ, तो ईसा के अप्रतिम शब्दों का तात्पर्य मेरी समझ में आ जाता है—"अन्य लोग

तुम्हें बुरा न कहें, इसलिए तुम भी किसी को बुरा मत कहो।" हम जितना ही अधिक समझने लगते हैं, उतना ही हमें अधिक पता चलता है कि हम कितने अज्ञ हैं तथा मनुष्य का मन किस तरह अनन्त प्रकार से काम कर रहा है। जब मैं छोटा था, तब मैं अपने देश के भाइयों की देह-दण्डात्मक तपस्या के बारे में नुक्ताचीनी किया करता था। हमारे देश के बड़े-बड़े आचार्यों ने भी उनके सम्बन्ध में नुक्ताचीनी की है। इतना ही नहीं, संसार के श्रेष्ठतम महापुरुष भगवान् बुद्धदेव ने भी यह बात की है। परन्तु जैसे-जैसे मैं बड़ा होता जाता हूँ, मैं देखता हूँ कि उनकी इस प्रकार नुक्ताचीनी करने का मुझे कोई अधिकार नहीं है। यद्यपि उनकी बातें उससे सम्बद्ध होती हैं, फिर भी मैं कभी-कभी चाहता हूँ कि उनकी कार्यक्षमता तथा सहनशक्ति का एक अंश मुझमें आजाय। मुझे प्रायः अनुभव होता है कि मैं जो यह नुक्ताचीनी करता हूँ, वह इसलिए नहीं कि मुझे देह-दण्ड पसन्द नहीं है, अपितु इसलिए कि मैं डरपोक हूँ—मुझमें वह करने की हिम्मत नहीं है, मैं उसे आचरण में नहीं ला सकता।

तुम्हारे ध्यान में यह भी आ जाएगा कि बल, वीर्य तथा साहस ऐसी बातें हैं, जो बिलकुल खास हैं। हम प्रायः कहा करते हैं कि यह मनुष्य शूर है, हिम्मती अथवा वीर है, परन्तु हमें याद रखना चाहिए कि शौर्य-वीर्य अथवा अन्य गुण हमें उस मनुष्य में प्रत्येक अवस्था में दिखाई देंगे, ऐसा नहीं है। एक मनुष्य जो तोप के मुँह में घुस जाएगा, डाक्टर का चाकू देखकर पीछे हट जाता है, परन्तु दूसरा मनुष्य जो तोप को देखने तक की हिम्मत नहीं करेगा, अवसर पड़ने पर डाक्टर की चीड़फाड़ को शान्तिपूर्वक सहन कर लेता है।

अतः दूसरों के सम्बन्ध में अनुकूल अथवा प्रतिकूल मत बनाते समय आपको पहले 'हिम्मत' अथवा 'बड़प्पन' की अपनी व्याख्या देनी चाहिए। हो सकता है कि मैं जिस मनुष्य को बुरा कहता हूँ, वह उन अन्य कुछ बातों में बहुत ही अच्छा हो, जिनमें मैं कभी भी अच्छा नहीं हो सकता।

दूसरा उदाहरण लीजिए। जब लोग पुरुष तथा स्त्री की कार्यशक्ति के सम्बन्ध में वार्तालाप करते हैं, तब आप यह देखेंगे कि वे यही भूल कर बैठते हैं। पुरुष युद्ध तथा कठिन शारीरिक श्रम कर सकता है, अतः वे समझते हैं कि वह अधिक श्रेष्ठ है, तथा इसके साथ स्त्री-जाति की शारीरिक दुर्बलता एवं युद्ध पराँङ-मुखता की तुलना करके वे दोनों में विरोध प्रदर्शित करते हैं।

परन्तु ऐसा सोचना अन्याय है। स्त्री भी उतनी ही साहसी होती है, जितना कि पुरुष। भला एक ऐसा पुरुष तो बताओ, जो बच्चे का लालन-पालन उतनी सहनशीलता, शान्ति तथा प्यार के साथ कर सकता हो, जितना कि एक स्त्री करती है। यदि पुरुष ने अपनी कार्यक्षमता के सामर्थ्य को बढ़ाया है तो स्त्री ने सहनशीलता को बढ़ाया है। यदि स्त्री में कार्यक्षमता की कमी है तो पुरुष कष्ट सहने में कच्चा है। यह सम्पूर्ण विश्व पूर्णतया समतोल है। कौन कह सकता है कि शायद एक दिन ऐसा आजाय, जब हमें यह दीख जाय कि एक छोटे से कीड़े में ही कोई ऐसा गुण है, जिसका मनुष्य में अभाव है। अत्यन्त दुष्ट मनुष्य में भी वे गुण हो सकते हैं, जो मुझ में बिलकुल ही न हों। मैं इस सत्य को अपने जीवन में प्रतिदिन देख रहा हूँ। एक जंगली व्यक्ति की ओर ही देखो। मैं कितना चाहता हूँ कि मेरा शरीर भी ऐसा ही मजबूत हो जाता। वह भरपेट खाता-पीता

है तथा 'रोग क्या वस्तु है' इसे सम्भवतः जानता तक नहीं। इसके विपरीत मैं सदैव बीमार रहता हूँ। यदि मैं अपने मस्तिष्क से इसके शरीर को बदल सकता, तो मुझे कितनी प्रसन्नता होती। इस संसार की गति लहरों की गति के समान है। ऐसी कोई लहर नहीं, जो उठती-गिरती न हो। संतुलन सब जगह अनुस्यूत है। आपके पास एक वस्तु बड़ी है और आपके पड़ौसी के पास दूसरी। जब आप पुरुष अथवा स्त्री की योग्यता को ठहराते हैं, तो उनके बड़प्पन के अलग-अलग दंडक के अनुसार ठहराइए। प्रत्येक का कार्यक्षेत्र भिन्न है। किसी को भी 'वह दुष्ट है' ऐसा कहने का अधिकार नहीं। यह तो वही पुराना अन्धविश्वास हुआ, जो यह कहता है—"यदि तुम ऐसा करोगे, तो संसार नष्ट हो जाएगा।" यह तो चलता ही आरहा है और संसार फिर भी आजतक नष्ट नहीं हुआ। इस देश में ऐसा कहा जाता था कि यदि नीग्रो मुक्त कर दिए जाँय, तो संसार रसातल को पहुँच जाएगा। परन्तु क्या ऐसा हुआ? लोग यह भी कहते थे कि यदि साधारण जनता में ज्ञान का प्रसार होगा, तो संसार का नाश हो जाएगा; परन्तु इस ज्ञान-प्रसार ने तो उन्नति ही की है। कई वर्ष पूर्व एक पुस्तक छपी थी, जिसमें यह बताया गया था कि इंगलैण्ड का सबसे अधिक बुरा क्या हो सकता है। लेखक ने यह दिखाया था कि मजदूरी बढ़ती जारही है और इस लिए इंगलैण्ड का व्यापार घटता जारहा है। यह आवाज उठाई थी कि अंग्रेज मजदूर बेहद मजदूरी माँगते हैं, जब कि जर्मनी के मजदूर बहुत कम वेतन पर काम करते हैं। इस बात की जाँच के लिए एक समिति जर्मनी भेजी गई और उसने आकर यह बताया कि जर्मनी के मजदूर अधिक वेतन पाते हैं, जब कि इंगलैण्ड के मजदूरों को बहुत कम वेतन मिलता है। ऐसा क्यों हुआ? जन-साधारण में शिक्षा के प्रसार के कारण। साधारण

जनता के पढ़ी-लिखी न होने से संसार नष्ट होने वाला था न? परन्तु ऐसा हुआ तो नहीं। विशेषकर भारतवर्ष में, हम सम्पूर्ण देश में ऐसे पुराने विचार वाले बुड्ढों को पाते हैं, जो सब कुछ साधारण जनता से गुप्त रखना चाहते हैं। इसी कल्पना में वे अपना बड़ा समाधान कर लेते हैं कि वे सम्पूर्ण विश्व में सबसे श्रेष्ठ हैं। वे समझते हैं कि जनसाधारण की शिक्षा के ये भयानक प्रयोग उनका नुकसान नहीं कर सकते। उनसे नुकसान होगा तो साधारण जनता का ही।

अच्छा, अब हम प्रत्यक्ष साधना की ओर झुकें। व्यावहारिक जीवन में मानसशास्त्र के उपयोग की ओर भारतवर्ष ने अत्यन्त प्राचीनकाल से ध्यान दिया है। ईसा से लगभग १४०० वर्ष पूर्व भी भारत में बहुत बड़े-बड़े तत्वज्ञ हो गए हैं, उनमें से एक का नाम पतंजलि था। उन्होंने मानसशास्त्र के सभी तथ्य, प्रमाण तथा आविष्कृत सिद्धान्त संकलित किए तथा पूर्वकालीन सभी अनुभवों से लाभ उठाया। यह नहीं भूलना चाहिए कि दुनियाँ बहुत पुरानी है। ऐसा मत समझो कि यह केवल दो-तीन हजार वर्ष पहले ही रची गई है। इधर तुम पाश्चात्यों को यह सिखाया जाता है कि समाज का आरम्भ १८०० वर्ष पूर्व 'न्यू टेस्टामेन्ट' के साथ ही हुआ, इसके पहले समाज नहीं था। सम्भव है, यह बात पश्चिमी गोलार्द्ध के सम्बन्ध में ठीक हो, परन्तु सारी दुनियाँ के लिए यह सत्य नहीं हो सकती। जब मैं लन्दन में भाषण दिया करता था, तब एक बुद्धिमान तथा पढ़ा-लिखा अंग्रेज मुझसे वाद-विवाद किया करता था। एक दिन अपने सब शस्त्रों को चला चुकने के उपरान्त वह एकदम कह उठा—"परन्तु यह तो बताओ कि तुम्हारे ऋषि हमें इस विलायत में ज्ञान देने के लिए क्यों नहीं आए?" मैंने उत्तर दिया—

"तब विलायत थी ही कहाँ, जो वे ज्ञान देने के लिए आते ? क्या वे जंगलों को सिखाते ?"

ईंगरसाल ने मुझसे कहा था—"यदि तुम पचास वर्ष पूर्व यहाँ ज्ञान सिखाने के लिए आते तो या तो तुम्हें फाँसी पर चढ़ा दिया जाता या जीवित जला दिया जाता अथवा पत्थर मार-मार कर शहर से बाहर निकाल दिया जाता।"

अतः यह मानना ठीक ही है कि सभ्यता ईसा के चौदह सौ वर्ष पूर्व भी विद्यमान थी। यह बात अभी तक निश्चित नहीं हुई है कि सभ्यता की गति सदैव नीचे से ऊपर की ओर ही हुई है। इस सिद्धांत को स्थापित करने के लिए जो आधार अथवा प्रमाण प्रस्तुत किए गए हैं, उनसे यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि आज का जंगली समाज एक समय के उन्नत समाज का अधःपतित रूप है। चीन के लोगों का ही उदाहरण लीजिए। उनका इस बात पर कभी विश्वास ही नहीं हो सकता कि संस्कृति का उदय जङ्गली स्तर से हुआ है। उनका अनुभव इसके बिलकुल विपरीत है। परन्तु जब तुम अमेरिका की संस्कृति के बारे में बात करते हो तो तुम्हारी दृष्टि से संस्कृति का यही अर्थ होता है कि स्वजाति का चिरजीवित्व एवं उसका निरन्तर विकास।

यह सहज ही विश्वास किया जा सकता है कि जिन हिन्दुओं का आज ७०० वर्षों से पतन हो रहा है, एक समय वे अवश्य ही सुसंस्कृत रहे होंगे। इसके विपरीत प्रमाण तो हम उपस्थित कर ही नहीं सकते।

ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है, जहाँ संस्कृति अपने,आप उत्पन्न हो गई हो। ऐसा कभी नहीं हुआ कि किसी अन्य सुसंस्कृत जाति के सम्पर्क में आए बिना कोई जाति उत्पन्न

होगई हो। संस्कृति का उदय पहले एक अथवा दो जातियों में हुआ होगा। तत्पश्चात् वे जातियाँ अन्य जातियों से मिलीं; उन्होंने अपने विचार फैलाए और इस प्रकार संस्कृति का विस्तार हुआ।

व्यावहारिकता की दृष्टि से आधुनिक वैज्ञानिक भाषा में ही हमें चर्चा करनी चाहिए, परन्तु मुझे आप लोगों को सचेत कर देना चाहिए कि जिस प्रकार धर्म के सम्बन्ध में अन्धविश्वास है, उसी प्रकार वैज्ञानिक विषयों में भी है। धार्मिक कार्य को अपनी विशेषता मानने वाले पुरोहितों की भी भाँति भौतिक विज्ञान के भी पुरोहित होते हैं, जो वैज्ञानिक कहलाते हैं। जैसे ही डार्विन अथवा हक्सले जैसे वैज्ञानिक का नाम लिया जाता है, वैसे ही हम आँखें बन्द करके उनका अनुकरण करने लगते हैं। यह तो आजकल एक रिवाज़-सी होगई है। जिसे हम वैज्ञा-निक-ज्ञान कहते हैं, उसका नब्बे प्रतिशत केवल बौद्धिक उपपत्ति ही होता है और इसमें से बहुत-सा तो अनेक हाथ और अनेक सिर वाले भूत-प्रेतों में अन्धविश्वास करने के समान ही होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि इस दूसरी उपपत्ति में मनुष्य को पत्थरों अथवा डंठलों से कुछ भिन्न माना गया है। सच्चा विज्ञान हमें सावधान रहना सिखाता है। जिस प्रकार हमें पुरोहितों से सावधान रहना चाहिए, उसी प्रकार वैज्ञानिकों से भी। पहले अविश्वास से प्रारम्भ करो, छानबीन करो, परीक्षा करो तथा प्रत्येक वस्तु का प्रमाण माँगने के पश्चात् उसे स्वीकार करो। वर्तमान समय के विज्ञान के बहुत से प्रचलित-सिद्धांत जिनमें हम विश्वास करते हैं, प्रमाणित नहीं हुए हैं। गणित जैसे शास्त्र में भी बहुत से ऐसे सिद्धांत हैं, जो केवल मानली हुई उपपत्ति के समान ही हैं। जब ज्ञान की वृद्धि होगी, तो ये फैंक दिए जाएँगे।

ईसा के १४०० वर्ष पूर्व एक बड़े महात्मा ने मानसशास्त्र के कुछ सत्यों को व्यवस्थित रचना एवं विश्लेषण करके, उनसे व्यापक सिद्धान्त निकालने का प्रयत्न किया था। उनके पश्चात् उनके अनेक अनुयायी आए, जिन्होंने उनके द्वारा आविष्कृत ज्ञान के अंश ले लिए तथा उन्हीं का विशेष रूप से अध्ययन करना आरम्भ कर दिया। प्राचीन जातियों में केवल हिन्दुओं ने ही मन लगाकर ज्ञान के इस विभाग का अध्ययन किया है। मैं अब आपको वही सिखाऊँगा, परन्तु प्रश्न यह है कि आप में से कितने उसका आचरण करेंगे? कितने दिन अथवा कितने महीनों के बाद आप उसे छोड़ देंगे? मैं जानता हूँ कि आप लोग इस विषय में कर्मकुशल नहीं हैं। भारतवर्ष में लोग युगों तक धैर्यपूर्वक प्रयत्न करते रहते हैं। आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि उनका न तो कोई गिरजाघर है और न कोई सामुदायिक प्रार्थना। वहाँ इस प्रकार के अन्य कोई साधन नहीं हैं, किन्तु फिर भी वे प्रतिदिन प्राणायाम का अभ्यास करते हैं एवं मन को एकाग्र करने की चेष्टा करते हैं। उनकी उपासना का मुख्य अंश यही है। वास्तव में यह तो उस देश का धर्म ही है। हाँ! उनमें से प्रत्येक की प्राणायाम एवं मन को एकाग्र करने की एक-एक विशेष पद्धति हो सकती है, परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि किसी व्यक्ति की स्त्री भी उसकी उस विशेष पद्धति को जाने अथवा पिता-पुत्र के विशेष तरीकों को जाने। हिन्दुओं को ये अभ्यास करने ही पड़ते हैं। इन अभ्यासों में कोई रहस्य नहीं है। 'रहस्य' शब्द इन पर लागू ही नहीं होता। प्रतिदिन सहस्रों मनुष्य गंगा के तट पर आँखें बन्द कर, ध्यान लगाए हुए प्राणायाम का अभ्यास करते हुए दिखाई देते हैं। साधारण जनता किसी-किसी प्रक्रिया को आचरण में नहीं ला सकती, इसके दो कारण हो सकते हैं। पहला तो यह कि आचार्यों के

मत से जनसाधारण इस अभ्यास के योग्य नहीं होते। इस मत में सत्य का कुछ अंश हो सकता है, परन्तु अधिक सच्चा कारण योग्य मार्गदर्शक का अभाव ही है। दूसरा कारण अत्याचार का भय है। उदाहरण के लिए, आपके देश में आमतौर से प्राणायाम करना कोई भी पसंद नहीं करेगा, क्योंकि उस व्यक्ति के सम्बन्ध में सम्भवतः अन्य लोग यह समझने लगेंगे कि यह कैसा अजीब जीव है, क्योंकि इस देश का रिवाज़ ऐसा नहीं है। इसके विरुद्ध, भारतवर्ष में यदि कोई ऐसी प्रार्थना करे कि "हे प्रभो! आज के दिन हमें हमारी प्रतिदिन की रोटी दो" तो लोग उस पर हँसेंगे। "हे पिता! तू जो स्वर्ग में रहता है—" इसकी भांति मूर्खता की कोई अन्य कल्पना तो हिन्दुओं की दृष्टि में हो ही नहीं सकती। जब हिन्दू उपासना करता है, तो यह समझता है कि परमेश्वर उसके हृदय में विद्यमान है।

योगियों के मत से तीन मुख्य नाड़ियाँ हैं। ये तीन मेरुदंड के भीतर रहती हैं—बांई ओर 'इड़ा' है, दाहिनी ओर 'पिंगला' है तथा बीच में 'सुषुम्ना' है। इड़ा तथा पिंगला ज्ञानतन्तुओं से बनी हुई हैं, परन्तु सुषुम्ना ज्ञान तन्तुओं से नहीं बनी है, वह पोली है। सुषुम्ना बन्द रहती है तथा साधारण मनुष्य के लिए इसका कोई उपयोग नहीं होता। वह इड़ा तथा पिंगला से ही अपना काम लिया करता है। इन्हीं नाड़ियों द्वारा संवेदना का प्रवाह निरन्तर आता-जाता रहता है तथा सम्पूर्ण शरीर में फैले हुए ज्ञानतन्तुओं द्वारा शरीर की भिन्न-भिन्न इन्द्रियों तक ये नाड़ियाँ आदेश पहुंचाती रहती हैं।

इड़ा तथा पिंगला का व्यवहार नियमित करना एवं उनमें नियमित गति उत्पन्न करना ही प्राणायाम का महान उद्देश्य है। परन्तु यह कोई बड़ी बात नहीं है। यह तो केवल अपने

फेफड़ों में काफी हवा लेना है। रक्त साफ करने के अतिरिक्त इसका अन्य कोई विशेष उपयोग नहीं है। श्वासोच्छ्वास द्वारा वायु को फेंफड़ों में खींचना तथा उसके द्वारा रक्त को साफ करना, इसमें कोई गुप्त-रहस्य नहीं है, यह तो केवल एक शारीरिक-क्रिया मात्र है। प्राणायाम से सिद्ध हुई इड़ा तथा पिंगला की नियमित-गति जब और भी अधिक नियमित होकर अत्यन्त सूक्ष्म हो जाती है, तब हम मूलभूत शक्ति को, जिसे प्राण कहते हैं, प्राप्त होते हैं। संसार में सर्वत्र दिखाई पड़ने वाली सभी क्रियाएँ इस प्राण के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। यह प्राण आभ्यन्तरिक सूक्ष्म महाशक्ति है। यह प्राण ही विद्युत् शक्ति है, यही चुम्बक शक्ति है। यह प्राणशक्ति मस्तिष्क के द्वारा विचार के रूप में प्रकट होती है। समस्त वस्तुएँ प्राण ही हैं। और यह प्राणशक्ति ही सूर्य, चन्द्र, तारागण आदि को चला रही है।

हम कहते हैं कि इस संसार में जो कुछ विद्यमान है, वह सब प्राण के स्पंदन का ही कार्य है। प्राण के सूक्ष्मतम स्पदंनो का कार्य है—'विचार'। इससे परे यदि कुछ है, तो वह हमारी कल्पनाशक्ति के बाहर है। इस प्राण द्वारा इड़ा तथा पिंगला का कार्य होता है। भिन्न-भिन्न शक्तियों का रूप लेकर शरीर के प्रत्येक भाग को प्राण ही चलाता है। आप इस पुरानी कल्पना को त्याग दें कि 'ईश्वर' नामक कोई है जो बाहर से इस सब कार्य को चला रहा है तथा आकाश में सिंहासनासीन होकर न्याय करता है। हम काम करते समय थक जाते हैं, क्योंकि उसमें उतनी ही प्राणशक्ति व्यय हो जाती है।

श्वासोच्छ्वास के अभ्यास को 'प्राणायाम' कहा जाता है। प्राणायाम से श्वासोच्छ्वास नियमित होता है तथा प्राण की क्रिया में नियमित गति उत्पन्न होती है। जब प्राण की

गति नियमित होती है, तो सब कार्य ठीक-ठीक होने लगते हैं। जब योगियों का शरीर उनके वश में हो जाता है, तब यदि शरीर के किसी अंग में रोग उत्पन्न होता है, तो वे यह जान लेते हैं कि उस अंग में प्राण की गति अनियमित हो रही है। उस समय वे प्राण को उस अंग की ओर प्रेरित करते हैं, जबतक कि उसकी गति फिर से नियमित रूप से आरम्भ नहीं हो जाती।

जिस प्रकार तुम अपने शरीरस्थ प्राण पर अपना अधिकार चला सकते हो, उसी प्रकार यदि तुम अधिक शक्तिशाली हो तो यहाँ बैठे ही अन्य किसी देश के मनुष्य के प्राण पर भी अधिकार चला सकते हो। प्राण यहाँ से वहाँ तक एक ही है। उसमें कहीं पर भी खंड नहीं है। 'एकत्व' ही उसका लक्षण है, धर्म है। आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक, मानसिक, नैतिक तथा तात्विक सभी दृष्टियों से सब एक ही है। जीवन तो केवल उसकी एक लहर, एक स्पंदन है, जो वाह्य भौतिक प्रकृति को स्पन्दित करता है, वही आपके भीतर भी स्पंदित हो रहा है। जिस प्रकार सरोवर में बर्फ के विभिन्न घनत्व के भिन्न-भिन्न स्तर होते हैं, उसी तरह यह विश्व-ब्रह्माण्ड भी जड़भूतों का एक विभिन्न स्तर वाला समुद्र है। सूर्य, चन्द्र, तारे और हम स्वयं भी इस महाकाश में अलग-अलग घनत्व की वस्तुएँ हैं, परन्तु वह आकाश तत्व अखंड है, एकरस है।

जब हम दर्शनशास्त्र का अध्ययन करते हैं तो हमें यह ज्ञात होता है, कि सम्पूर्ण विश्व एक आध्यात्मिक, पंचभौतिक मानसिक अथवा प्राण-जगत्—ये सब भिन्न-भिन्न नहीं हैं। सम्पूर्ण विश्व यहाँ से वहाँ तक एक है। बात इतनी ही

है कि अलग-अलग दृष्टिकोण से देखे जाने के कारण विभिन्न प्रतीत होता है। 'मैं शरीर हूँ', जब आप इस भावना से अपनी ओर देखते हैं तो मैं 'मन भी हूँ', इसे भूल जाते हैं और जब आप स्वयं को मनोरूप देखने लगते हैं, तो आपको अपने शरीरत्व की स्मृति हो जाती है। विद्यमान वस्तु केवल एक है और वह 'आप' हैं। वह आपको या तो जड़ अथवा शरीर के रूप में अथवा मन या आत्मा के रूप में दिखाई दे सकती है। जन्म, जीवन, मरण ये सब भ्रममात्र हैं। न कभी कोई मारता है और न कभी कोई जन्म लेता है। केवल इतना ही होता है कि मनुष्य एक स्थिति से दूसरी स्थिति में चला जाता है। पाश्चात्य लोगों को मृत्यु से इतना भयभीत होते देखकर मुझे अत्यन्त दुःख होता है—जैसे वे जीवन को पकड़ रखने का निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं। वे कहते हैं—"हमें मृत्यु के पश्चात जीवन दो, हमें मरणोत्तर जीवन दो।" यदि कोई आए और उन्हें यह बताए कि वे मृत्यु के पश्चात् भी विद्यमान रहेंगे, तो वे कितने आनन्दित होते हैं! यथार्थ में मैं मनुष्य के अमरत्त्व में अविश्वास ही किस प्रकार कर सकता हूँ! 'मैं मृत हूँ', यह कल्पना ही मैं किस तरह कर सकता हूँ? यदि आप स्वय को मरा हुआ सोचने का प्रयत्न करेंगे तो यह देखेंगे कि आप अपने मृत-शरीर को देखने के लिए ही विद्यमान हैं। जीवन का अस्तित्व एक ऐसा आश्चर्यजनक सत्य है कि आप एक क्षण के लिए भी उसका विस्मरण नहीं कर सकते; क्योंकि अपने अस्तित्व के बिना यह स्मरण एकदम ही असम्भव है। 'मैं हूँ' यह अस्तित्व-सम्बन्धी-ज्ञान ही चैतन्य का मुख्य प्रमाण है। जिसका कभी अस्तित्व ही नहीं था, उसकी कल्पना ही कौन कर सकता है? अतः चैतन्य का अबाधित अस्तित्व स्वयं-सिद्ध सत्य है। इसीलिए अमरत्व की भावना मनुष्य में स्वभा-

अतः विद्यमान रहती है। और इसीलिए इस विषय पर किसी तरह के विवाद के लिए न कोई गुंजाइश है और न कोई प्रयोजन ही है।

अतः हम किसी भी दृष्टि से देखें, हमें प्रतीत होता कि यह समस्त विश्व एक ही वस्तु है। अभी हमें यह सम्पूर्ण विश्व, प्राण एवं आकाश अर्थात् शक्ति तथा जड़ का बना हुआ प्रतीत होता है। और आप लोग ध्यान रखें कि अन्य मूलभूत सिद्धान्तों की भाँति यह सिद्धान्त भी स्वविरोधी है। वस्तुतः शक्ति एवं जड़ विभिन्न वस्तुएँ नहीं है। शक्ति क्या है? शक्ति वह है जो जड़ रूप परिणाम का कारण है। और जड़ क्या है? जड़ वह है जो शक्ति का परिणाम रूप कार्य है। यह तो गोल-मोल बात हुई। हमें अपने विज्ञान और बुद्धि का अभिमान होते हुए भी हमारे कोई-कोई मूलभूत सिद्धांन्त तक अत्यन्त विचित्र होते हैं। यह तो 'बे सिर के सिरदर्द' की भाँति हुआ। इस वस्तु स्थिति का नाम है—माया। न तो वह विद्यमान है और न अविद्यमान ही। तुम उसे विद्यमान नहीं कह सकते, क्योंकि केवल वही वस्तु विद्यमान कही जा सकती है, जो देश-काल से परे हो, और जिसके अस्तित्व के लिए किसी दूसरे की आवश्य-कता न हो। फिर भी यह विश्व आंशिक रूप में हमारे अस्तित्व की कल्पना की पूर्ति करता है, अतः उसका अस्तित्व आपात प्रतीयमान है।

परन्तु इस सम्पूर्ण विश्व में एक सत् वस्तु ओत-प्रोत है, और वह देश, काल तथा कार्यकारण के जाल में जैसे फँसी हुई है। मनुष्य का सच्चा स्वरूप वह है, जो अनादि, अनन्त, आन-न्दमय और नित्यमुक्त है। वही देश, काल तथा परिणाम के चक्र में फँसा हुआ है। प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में भी यही सत्य

है। प्रत्येक वस्तु का परमार्थ स्वरूप वही अनन्त है। यह विज्ञान वाद नहीं है, इसका यह अर्थ नहीं कि संसार का अस्तित्व ही नहीं है। इसका अस्तित्व सापेक्ष है तथा सापेक्षता के सभी लक्षण इसमें विद्यमान हैं, परन्तु इसकी स्वयं की कोई अलग सत्ता नहीं है। यह इसलिए विद्यमान है कि इसके पीछे देश, काल, निमित्त से परे निरपेक्ष अद्वितीय सत्ता विद्यमान है।

खैर, यह विषयान्तर हो गया। आइए, अब हम फिर अपने मुख्य विषय की ओर आएँ।

समस्त क्रियाएँ, चाहे वे सहज हों अथवा इच्छापूर्ण, प्राण के ही कार्य हैं, जो ज्ञानतन्तु द्वारा होते हैं। अब इससे आपको यह ज्ञात होगा कि अपनी सहज क्रियाओं पर नियंत्रण रखना एक बहुत अच्छी बात है।

एक दूसरे अवसर पर मैंने आपको मनुष्य तथा परमेश्वर की व्याख्या बताई थी। मनुष्य एक अमर्याद वर्तुल है, जिसकी परिधि कहीं भी नहीं है, परन्तु जिसका केन्द्र एक स्थान में निश्चित है, और वह परमेश्वर एक ऐसा अमर्याद वर्तुल है, जिसकी परिधि कहीं भी नहीं है, परन्तु जिसका केन्द्र सब जगह है। वह सब हाथों द्वारा काम करता है, सब आँखों द्वारा देखता है, सब पाँवों द्वारा चलता है, सब शरीरों द्वारा साँस लेता है, सब जीवों में वास करता है, सब मुखों द्वारा बोलता है तथा सब मस्तकों द्वारा विचार करता है। यदि मनुष्य अपनी क्षुद्र, असीम चैतन्यमय सत्ता का अतिक्रमण करके असीम, अद्वितीय चैतन्यमय सत्ता के साथ तादात्म्य लाभ कर सके, तो वह ईश्वर रूप बन सकता है तथा समस्त विश्व पर अपना अधिकार चला सकता है। सब स्वरूप अद्वितीय विश्वचैतन्य के साथ मानव के सीमाबद्ध चैतन्य का अभेदत्व लाभ ही जीवन का लक्ष्य है।

अतः चैतन्य का ज्ञान कर लेना परम आवश्यक है। मान लीजिए, अँधेरे में एक अनन्त रेखा है हम उस रेखा को देख नहीं सकते, परन्तु उस रेखा पर एक तेजोमय विन्दु है, जो गतिमान है। इस रेखा पर चलते हुए जैसे वह विन्दु आगे बढ़ता है। वैसे-वैसे वह भिन्न-भिन्न भागों पर क्रमशः प्रकाश डालता जाता है तथा जो हिस्से पिछड़ते जाते हैं, वे फिर से अँधेरे में डूब जाते हैं। हमारी चेतनावस्था को भी ठीक इस प्रकाशमान विन्दु की उपमा दी जा सकती है। इस चेतनावस्था के गत अनुभवों का स्थान वर्तमान अनुभव ने ले लिया है अथवा यों कहिए कि ये गत अनुभव प्रसुप्त चेतनावस्था में जा चुके हैं। हमें इनके अस्तित्व का बोध नहीं होता, परन्तु फिर भी ये विद्यमान हैं तथा हमारे मन एवं शरीर पर अज्ञात भाव से परिणाम करते जा रहे हैं? आज जो-जो कार्य बिना चेतना की सहायता के होते हुए दिखाई पड़ रहे हैं, वे सब पहले चेतना युक्त थे। अब उनमें इतनी गति आगई है कि वे स्वयं ही कार्य कर सकते हैं।

सभी नीति शास्त्रों का, बिना किसी अपवाद के, एक बड़ा दोष यह है कि उन्होंने इन साधनों का कभी उपदेश नहीं दिया, जिनके द्वारा मनुष्य स्वयं को बुरा करने से रोक सके। सभी नीति ग्रन्थ यह कहते हैं कि "चोरी मत करो" ठीक है, परन्तु मनुष्य चोरी करता ही क्यों है? कारण यह है कि चोरी, डाका, दुर्व्यवहार आदि कुकर्म इच्छाशक्ति-रहित क्रियाएँ बन बैठे हैं। डाका डालने वाले, चोर, झूठे एवं अन्यायी स्त्री-पुरुष ये ऐसे इसलिए हो गए हैं कि अन्यथा होना उनके हाथ में नहीं है। वास्तव में मानसशास्त्र के लिए यह एक बड़ी विकट समस्या है। हमें मनुष्य की ओर अत्यन्त उदारता की दृष्टि से देखना चाहिए। अच्छा बनना

इतनी सरल बात नहीं है। जब तक तुम मुक्त नहीं होते, तब तक तुम एक यंत्र के अतिरिक्त और क्या हो ? क्या तुम्हें इस बात पर अभिमान होना चाहिए कि तुम अच्छे मनुष्य हो ? बिलकुल नहीं । तुम इसलिए अच्छे हो कि तुम अन्यथा नहीं हो सकते। दूसरा मनुष्य इसलिए बुरा है कि अन्यथा होना उसके बस की बात नहीं है । यदि तुम उसके स्थान पर होते, तो कौन जानता है कि तुम क्या होते ? एक कुलटा स्त्री अथवा जेल में रहने वाला एक चोर जैसे ईसामसीह है, जो इसलिए शूली पर चढ़ाया गया है कि तुम अच्छे बनो। प्रकृति में इसी भाँति साम्यावस्था रहती है। सभी चोर और खूनी, सभी अन्यायी तथा पतित, सभी बदमाश एवं राक्षस मेरे लिए ईसामसीह हैं। देव रूपी ईसा और दबाव रूपी ईसा, दोनों ही मेरे लिए आराध्य हैं। यही मेरा धर्म है, इससे अन्यथा मेरे बस की बात नहीं। अच्छे तथा साधु पुरुषों को मेरा प्रणाम, बदमाश एवं शैतानों को भी मेरा प्रणाम ! ये सभी मेरे गुरु हैं, मेरे धर्मोपदेशक आचार्य हैं, मेरे रक्षक हैं। मैं चाहे किसी एक को शाप दूं, परन्तु सम्भव है, फिर उसी के दोषों से मेरा लाभ भी हो। दूसरे को मैं आशीर्वाद दूं, तथा उसके शुभकर्मों से मेरा हित हो। यह सूर्य के प्रकाश की भाँति सत्य है । दुराचारी स्त्री को मुझे इसलिए दुतकारना पड़ता है कि समाज इसे चाहता है। आह ! वह मेरा रक्षण करने वाली है, जिसके बदचलन के कारण ही अन्य स्त्रियों का सतीत्व सुरक्षित रहा, इसका विचार तो करो ! भाइयो और बहनो ! इस प्रश्न को तनिक अपने मन में सोचो। यह सत्य है—बिलकुल सत्य है। मैं जितनी ही अधिक दुनियाँ देखता हूँ, जितना ही अधिक मनुष्यों तथा स्त्रियों के सम्पर्क में आता हूँ, मेरी यह धारणा उतनी ही दृढ़ होती चली जाती है । मैं किसे दोष दूँ ? मैं किसकी प्रशंसा

करूँ ? हमें वस्तु स्थिति का सब ओर से विचार करना चाहिए।

हमारे सामने बहुत बड़ा कार्य है और इसमें सबसे पहला तथा सबसे महत्व का कार्य अपने सहस्रों सुप्त-संस्कारों पर अधिकार चलाना है, जो इच्छाशक्ति-रहित क्रियाओं में परिणित हो गए हैं। यह बात सत्य है कि असत्कर्मसमूह मनुष्य के जागृत् क्षेत्र में रहता है, परन्तु जिन कारणों ने इन बुरे कामों को जन्म दिया, वे इसके पीछे प्रसुप्त तथा अदृश्य जगत् के हैं तथा इसलिए अधिक प्रभावशाली हैं।

व्यावहारिक मानसशास्त्र हमें पहले यह सिखाता है कि हम अपने मन के अज्ञात क्षेत्र पर अपना अधिकार किस प्रकार चला सकते हैं। हम जानते हैं कि हम ऐसा कर सकते हैं। क्यों ? इसलिए कि हम जानते हैं कि मन का ज्ञान-युक्त क्षेत्र ही इस अज्ञान-युक्त का क्षेत्र का कारण है। हमारे जो लाखों पुराने जागृत् विचार तथा चेतनायुक्त कार्य हैं, वे ही घनीभूत होकर प्रसुप्त हो जाने पर हमारे अज्ञात संस्कार बन जाते हैं। उधर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। हमें उनका ज्ञान ही नहीं होता। उन्हें हम भूल ही जाते हैं। परन्तु देखिए, यदि प्रसुप्त अज्ञात संस्कारों में बुरा करने की शक्ति है तो उनमें अच्छा करने की शक्ति भी है। हमारे भीतर अनेक प्रकार के संस्कार भरे पड़ेहैं— जैसे एक गठरी में बहुत-सी वस्तुएँ भरी पड़ी हैं। हम उन्हें भूल गए हैं,उनका विचार तक नहीं करते। उनमें से बहुत से तोवहीं पड़े २ सड़ते रहते हैं और वास्तव में भयानक बनते जाते हैं। वे ही प्रसुप्त कारण एक दिन मन के ज्ञानयुक्त क्षेत्र पर आ उठते हैं तथा मानवता का विनाश कर देते हैं। अतः सच्चा मानसशास्त्र इस बात का प्रयत्न करेगा कि ये प्रसुप्त भाव जागृत्भावों द्वारा

नियन्त्रित हों। मनुष्य के समस्त व्यक्तित्त्व को जाग्रत करना, जिससे कि वह अपना पूर्णस्वामी बन जाय ; एक बड़ा काम है। शरीर के अन्तर्गत यकृत् आदि इन्द्रियों की सहज क्रियाओं को भी हम अपना आदेश म नने के लिए लगा सकते हैं।

अज्ञात क्ष त्र को अपने अधिकार में लाना हमारे अभ्यास का पहला भाग है। दूसरा है—जागृत् क्षेत्र के परे चले जाना। जिस प्रकार अज्ञात क्षेत्र जागृत क्षेत्र के नीचे—उसके पीछे रह-कर कार्य करता है, उसी प्रकार जागृत् क्षेत्र के ऊपर—उसके परे भी एक अवस्था है। जब मनुष्य इस अतीन्द्रिय ज्ञानातीत अवस्था को पहुंच जाता है. तब वह मुक्त हो जाता है, ईश्वरत्व को प्राप्त हो जाता है। तब मृत्यु अमरत्व में बदल जाती है, दुर्बलता असीम शक्ति बन जाती है तथा अज्ञान की लौह शृंख-लाएँ टूट जाती हैं। यह अनन्त ज्ञानातीत अवस्था ही—यह इन्द्रियातीत राज्य ही हमारा एकमात्र लक्ष्य है।

अतः यह स्पष्ट है कि हमें दो कार्य अवश्य ही करने होंगे। एक तो यह कि इड़ा तथा पिंगला के प्रवाहों का नियमन कर अज्ञातवश होते हुए कार्यों को नियमित करना तथा दूसरा, इसके साथ ही-साथ द्वैतबोध के भी परे चले जाना।

ग्रंथों में कहा है कि योगी वही है, जिसने दीर्घकाल तक चित्त की एकाग्रता का अभ्यास करके इस सत्य की उपलब्धि करली है। अब सुषुम्ना का द्वार खुल जाता है तथा इस मार्ग से वह प्रवाह आरम्भ हा जाता है, जो इसके पूर्व वहाँ कभी नहीं था तथा वह (जैसा कि अलंकारित भाषा में कहा है) धीरे-धीरे भिन्न-भिन्न कमलचक्रों में से होता हुआ, कमल दलों को खिलाता हुआ, अन्त में मस्तिष्क में पहुंच जाता है। तब योगी

को अपने सच्चे स्वरूप का ज्ञान हो जाता है और वह यह जान लेता है कि वह स्वयं ही परमेश्वर है।

हममें से प्रत्येक व्यक्ति, बिना किसी अपवाद के, योग की इस अन्तिम अवस्था को प्राप्त कर सकता है। परन्तु यह अत्यन्त कठिन कार्य है। यदि मनुष्य को इस सत्य का अनुभव करना हो तो उसे केवल भाषण सुनने एवं श्वासोच्छ्वास की थोड़ी-सी क्रियाओं का अभ्यास करने के अतिरिक्त भी कुछ अन्य विशेष साधनाएँ करनी पड़ेंगी। तैयारी का ही महत्व है। दीपक जलाने में कितनी देर लगती है? केवल एक सैकिण्ड। परन्तु उस मोमबत्ती को बनाने में कितना समय लग जाता है! खाना खाने में कितनी देर लगती है? सम्भवतः आधा घंटा। परन्तु उसी खाने को पकाने में कितने घंटे लग जाते हैं। हम चाहते हैं कि दीपक क्षण भर में जल उठे, परन्तु हम यह भूल जाते हैं कि मोमबत्ती बनाना ही तो मुख्य कार्य है।

इस तरह यद्यपि ध्येय की प्राप्ति अत्यन्त कठिन है, फिर भी हमारे द्वारा किए गए बिलकुल छोटे-छोटे प्रयत्न भी व्यर्थ नहीं जाते। हम जानते हैं कि कोई भी वस्तु नष्ट नहीं होती। गीता में अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण से प्रश्न किया है कि वे मनुष्य, जिनकी योग-साधना इस जन्म में सिद्ध नहीं हुई, किस दशा को प्राप्त होते हैं? क्या वे ग्रीष्मकाल के मेघों की भाँति नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं? श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं— "हे अर्जुन! कोई भी वस्तु नष्ट नहीं होती। मनुष्य जो कुछ कार्य करता है, वह उसी का हो जाता है। और यदि योग की सिद्धि इस जन्म में नहीं हुई तो मनुष्य उस अभ्यास को फिर दूसरे जन्म में प्रारम्भ कर देता है।* यदि ऐसा न हो तो ईसामसीह,

* गीता—६।३८,४०।

बुद्ध अथवा शंकराचार्य की अलौकिक बाल्यावस्था का स्पष्टीकरण तुम किस प्रकार दोगे ?

आसन, प्राणायाम आदि योग के सहायक अवश्य हैं, परन्तु वे केवल शारीरिक क्रियाएँ मात्र हैं । मुख्य तैयारी तो मन की है । सबसे प्रथम यह आवश्यक है कि हमारा जीवन शान्तिपूर्ण एवं समाधान युक्त हो ।

यदि तुम योगी बनना चाहते हो, तो तुम्हें स्वतंत्र होना पड़ेगा और स्वयं को ऐसे वातावरण में रखना होगा, जहाँ तुम सभी चिन्ताओं से मुक्त होकर अकेले रह सकते हो । जो आरामपूर्ण तथा विलासपूर्ण जीवन की इच्छा रखते हुए आत्मानुभूति की चाह रखता है, वह उस मूर्ख की भाँति है, जिसने नदी पार करने के लिए एक मगर को लकड़ी का लट्ठा समझकर पकड़ लिया हो । "पहले ईश्वर के ठीक-ठीक अन्वेषण में लगे रहो, बाद में सब कुछ तुम्हें स्वयं ही मिल जाएगा ।" यही एक महान् कर्तव्य है, यही त्याग है । एक आदर्श के लिए जीवित रहो तथा मन में किसी अन्य विचार को आने ही मत दो । आओ, हम अपनी सभी शक्तियाँ उस आध्यात्मिक पूर्णता की ओर लगाएँ, जिसका कभी नाश नहीं होता । यदि हमें आत्मबोध की सच्ची लगन है, तो हमें साधना करनी चाहिए एवं उसके द्वारा ही हमारी उन्नति होगी । हमसे गलतियाँ होंगी ही, परन्तु सम्भवतः वे ही हमारे लिए अज्ञात वरदान की भाँति हो जाँय ।

आध्यात्मिक जीवन का सबसे बड़ा सहारा है—ध्यान । ध्यान के द्वारा हम अपनी भौतिक भावनाओं से स्वयं को स्वतंत्र कर लेते हैं तथा अपने ईश्वरीयरूप का अनुभव करने लगते हैं । ध्यान करते समय हमें किन्हीं बाहरी साधनों पर अवलम्बित

नहीं रहना पड़ता । गहरे अँधेरे स्थान को भी आत्मा की ज्योति दिव्य प्रकाश से भर देती है, बुरी से बुरी वस्तु में भी वह अपना सौरभ उत्पन्न कर सकती है, वह अत्यन्त दुष्ट मनुष्य को भी देवता बना देती है तथा उससे सम्पूर्ण स्वार्थी भावनाएँ, सम्पूर्ण शत्रुभाव नष्ट हो जाते हैं । शरीर का जितना कम ध्यान रक्खा जाय, उतना ही अच्छा है; क्योंकि यह शरीर ही हमारा अध:पतन करता है । इस शरीर की ममता, इस शरीर का अभिमान ही हमारे दुखों का कारण है । मैं आत्मा हूँ, मैं शरीर नहीं हूँ, यह संसार और इसके सम्पूर्ण भाव, इसकी भलाई तथा इसकी बुराई—"ये केवल चित्रपट पर खिंची हुई भिन्न-भिन्न रेखाकृतियाँ हैं और मैं उनका साक्षी हूँ"—यह निदिध्यासन ही धर्म-जीवन का रहस्य है ।

विवेकानन्द ग्रंथमाला

युग-पुरुष स्वामी विवेकानन्द का साहित्य संसार की अनेक भाषाओं में अनूदित एवं प्रकाशित हो चुका है। इस साहित्य की कुछ स्फुट पुस्तकें हिन्दी में भी छपी हैं। फिर भी प्रस्तुत ग्रन्थमाला का प्रकाशन हिन्दी-जगत के लिये एक महत्वपूर्ण घटना है जिसके निम्नलिखित दो मुख्य आधार हैं—

१. अब तक स्वामी जी की जो पुस्तकें हिन्दी में प्रकाशित हुई हैं उनमें विषय वस्तु की एकरूपता न होने से पाठकों को अभीष्ट वस्तु की खोज में बहुत अधिक भटकना पड़ता था। इस ग्रंथमाला की पुस्तकों में विषयों के वर्गीकरण की ओर विशेष ध्यान दिया गया है।

२. अन्य पुस्तकों में पुनरावृत्ति का दोष बहुत पाया जाता है, प्रस्तुत ग्रन्थमाला इस दोष से सर्वथा मुक्त है।

आशा है सरस, सरल एवं सुबोध शैली में अनुदित एवं सुसम्पादित 'स्वामी विवेकानन्द-ग्रंथमाला' की ये सचित्र, सजिल्द एवं सुमुद्रित पुस्तकें पाठकों द्वारा विशेष स्नेहपूर्वक अपनाई जायेंगी।